

# हबीब तनवीर

## एक रंग-व्यक्तित्व

सम्पादन  
प्रतिभा अग्रवाल



नाट्य शोध संस्थान  
कलकत्ता

© नाट्य शोध संस्थान

आवरण/ग्रन्थसज्जा

खालेद चौधरी

मुखपृष्ठ छायाचित्र

अविनाश पसरीचा

प्रकाशक

नाट्य शोध संस्थान

4, ली रोड, कलकत्ता-700 020

मुद्रक

भारत पेपर एण्ड बोर्ड कम्पनी

106बी, आम्हस्ट स्ट्रीट, कलकत्ता-700 009

मूल्य

एक सौ बीस रुपए

फोर्ड फाउन्डेशन के अनुदान से प्रकाशित

HABIB TANVIR

EK RANG-VYAKTITVA

EDITOR Pratibha Agrawal

Accession No. 150928  
Shantarakshita Library  
Tibetan Institute-Sarnath

## आभार

‘हबीब तनवीर एक रंग-व्यक्तित्व’ नाट्य शोध संस्थान की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशित होनेवाली दूसरी पुस्तक है। पहली पुस्तक थी ‘मास्टर फिदा हुसैन - पारसी थियेटर में पचास वर्ष’ ( 1988 )। प्रस्तुत पुस्तक का मूल आधार संस्थान के लिए हबीब तनवीर के साथ किया गया साक्षात्कार ( 1984 ), अन्य साक्षात्कार, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली समीक्षाएँ एवं स्वयं हबीब तनवीर के लेख हैं। पुस्तक के प्रथम खंड ‘व्यक्ति, व्यक्तित्व और कृतित्व’ में व्यक्ति हबीब के व्यक्तित्व और कृतित्व का सिलसिलेवार व्योरा एवं मूल्यांकन है। परिशिष्ट के अंतर्गत दूसरे और तीसरे भाग में उनके साथ की गयी बातचीत एवं स्वयं उनकी रचनाएँ हैं जिनमें लेख, गीत एवं गजल शामिल हैं। अंतिम भाग में उनकी जीवन-विवरणिका प्रस्तुत है।

‘हबीब तनवीर : एक रंग-व्यक्तित्व’ मूलतः हिंदी में लिखी गयी है पर इसका एक बड़ा हिस्सा अंग्रेजी में भी है जिसमें हबीब तनवीर द्वारा लिखित लेख एवं उनके साथ इन्वेंट के सम्पादक रजिन्दर पाल द्वारा की गयी लंबी बातचीत शामिल है। जीवन-विवरणिका भी अंग्रेजी में है। ऐसा करने के पीछे दो उद्देश्य थे। पहला यह कि पुस्तक अहिंदी भाषा-भाषी लोगों के लिए भी उपादेय हो सके और दूसरा हबीब तनवीर की चुस्त अंग्रेजी का आस्वादन भी पाठक कर सके।

आभारी हूँ शमीक बैनर्जी की जिनके साथ पुस्तक का स्वरूप निर्धारित किया एवं हबीब तनवीर के साथ लबी मुलाकाते करके तथ्यों को दुबारा पुष्ट किया, उनमें आवश्यकतानुसार सशोधन-परिवर्द्धन किये। अग्रेजी अंश का संयोजन उनका किया हुआ है, जीवन-विवरणिका भी उन्होंने प्रस्तुत की है। आभारी हूँ मनमोहन ठाकौर, मदन सूदन एवं ताविश अजीमाबादी की जिन्होंने हबीब तनवीर की उर्दू की रचनाओं के लिप्यंतरण में सहायता की। साथ ही आभारी हूँ कवि नवल की जिन्होंने विभिन्न रूपों में सहयोग दिया। पुस्तक की साजसज्जा एवं मुखपृष्ठ सुप्रसिद्ध ग्रंथ-सज्जाकार खालेद चौधरी द्वारा परिकल्पित है, उनके प्रति श्रद्धानत हूँ।

पुस्तक में जितना कुछ मेरा है उससे अधिक दूसरों का है। एक बड़ा हिस्सा स्वयं हबीब तनवीर की रचनाओं का है। इसका छोटा अंश नटरंग और अधिकांश इन्कैट से उद्धृत है। खेद है कि इन्कैट के तत्कालीन सम्पादक रजिन्दर पाल आज हमारे बीच नहीं। उनके चलते भारतीय रंगमंच से सम्बन्धित प्रचुर तथ्य एवं सामग्री सामने आयी। इन्कैट में प्रकाशित सामग्री के पुनर्मुद्रण की अनुमति देने के लिए सुनीता पाल की कृतज्ञ हूँ। पुस्तक में सुरेश अवस्थी, जितेन्द्र कौशल, विभु कुमार एवं नन्ही कपूर के पूरे के पूरे आलेख उद्धृत हैं। आभारी हूँ इन सब की और उन सब समीक्षकों की भी जिनकी समीक्षाओं के अंश उद्धृत किये गये हैं।

साथ ही धन्यवाद के पात्र हैं अविनाश पसरीचा (दिल्ली), निमाई घोष एवं निर्मलेन्दु चैटर्जी (कलकत्ता), गुरिन्दर ओगन तथा संगीत नाटक अकादमी जिनके द्वारा लिये गये छायाचित्रों का उपयोग पुस्तक में किया गया है। आर्थिक आर्थिक सहयोग के लिए सर्वश्री काया ट्रस्ट की आभारी हूँ।

पुस्तक की रचना एवं साजसज्जा के सहभागियों एवं सहयोगियों की इस लबी सूची को पढ़कर यह प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है कि यह एक सम्मिलित प्रयास है। मैं इससे सहमत हूँ। इस पुस्तक में मेरा बहुत कुछ है पर, सब कुछ नहीं। वस्तुतः हबीब तनवीर की सार्थक रंगयात्रा के प्रति यह भारतीय रंगजगत की श्रद्धाजलि है, इसके हम सब सहभागी हैं। मैं तो निमित्त मात्र हूँ। और यह सब संभव हुआ नाट्य शोध संस्थान में संग्रहीत सामग्री के कारण। आभारी हूँ संस्थान की कार्यकारिणी के सदस्यों की जिन्होंने इसे प्रकाशित करने का निर्णय किया और जिसे फोर्ड फाउंडेशन द्वारा प्राप्त अनुदान से प्रकाशित किया।

प्रतिभा अग्रवाल



हृषीक तनवीर

को

उनके इकहत्तरवें वर्ष-प्रवेश पर

सादर

हबीब तनवीर

---

व्यक्ति

---

व्यक्तित्व

---

और

---

कृतित्व



“मेरा जन्म रायपुर में 1 सितम्बर सन् 1923 को हुआ। भिलाई के पास छत्तीसगढ़ का डलाका है, आन रायपुर को उसकी राजधानी कह सकते हैं। मेरी मा मध्यप्रदेश की थी पर मेरे वालिद पेशावर से आकर रायपुर में बस गये थे। वही उन्होंने शादी की और हम सब भाई-बहनों का जन्म भी वही हुआ। वहाँ के लारी म्युनिसिपल हाई स्कूल से मैंने मैट्रिक किया, और नागपुर के मॉरिस कालेज से बी० ए०। बाद में एम० ए० के लिए अलीगढ़ गया लेकिन पढाई पूरी किये बिना ही बम्बई चला गया। बम्बई में कुछ फ़िल्मों, कुछ रेडियो में काम किया। फिर इष्टा की तरफ़ गया, वहाँ रहा छ-सात साल। और उसके बाद आ गया दिल्ली 1954 के आखीर में। आते ही दिल्ली के थियेटर से जुड़ा और काम शुरू किया लेकिन ज्यादा दिन टिक नहीं पाया। मौका मिला और मैं ट्रेनिंग के लिए चला गया लंदन। इंग्लैंड में कई जगह ट्रेनिंग ली, फिर योरोप में घूमता रहा, थियेटर देखता रहा, थियेटर करने के मनसूबे बनाता रहा। इसमें निकल गये तीन साल। 1958 में दिल्ली लौटा और सबसे वही हूँ। लौटकर उसी साल हिन्दुस्तानी थियेटर शुरू किया। सन् 1959 में उससे अलग होकर नया थियेटर शुरू किया, सबसे उसी के साथ हूँ। इस साल (1984) नया थियेटर को पच्चीस साल हो गये पूरे। यह है मेरे अब तक के सफर की दास्तान।”

अत्यंत संक्षेप में अपने जीवन के साठ वर्षों के सफर के इतिहास को प्रस्तुत करनेवाले थे भारतीय रंगमंच के सुप्रसिद्ध निर्देशक हबीब तनवीर जिन्होंने 6 मई सन् 1984 को नाट्य शोध संस्थान में बातचीत करते हुए ये तथ्य दिये

थे । आज उस बात को भी नो साल हो गये । अपने पचास वर्षों में अधिक के रगमचीय जीवनकाल में हबीब तनवीर ने प्रचुर काम किया है, अनुभव प्राप्त किया है, अनेक बार नई जमीन तोड़ी है, नागर और लोक अर्थात् शहरी और ग्रामीण रगमच के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में महत्वपूर्ण काम किया है, लोक-कलाकारों को अपने नाट्य दल का अभिन्न अंग बनाकर अपनी प्रस्तुतियों को प्रामाणिकता के साथ-साथ एक नया आयाम दिया है, समन्वित थियेटर ( टोटल थियेटर ) की आधुनिक अवधारणा के परम्परागत रूप को दर्शकों के सामने रखकर उन्हें अपनी समृद्ध विरासत से परिचित कराया है और इस प्रकार कला के क्षेत्र में शहर और गांव, शिक्षित और अशिक्षित, अमीर और गरीब, सुसंस्कृत और असंस्कृत आदि शब्दों के बेहिक प्रयोग के सम्बन्ध में हमें ठिठककर सोचने को प्रेरित किया है । संभवतः हमारे देश में हबीब ऐसे एकमात्र निर्देशक हैं जिन्होंने तथाकथित सभ्य-सुसंस्कृत शहरी प्रस्तुतियों में लोकनाट्य या लोकपरम्परा का छौंक लगाकर उसे सुस्वादु बनाने या चटपटापन प्रदान करने की कोशिश नहीं की है, कोशिश की है तो लोकनाट्य और लोककला की ताकत और शक्तियत को समझने की, उसे दिल में गहरे उतारने की और उसके प्रति लोगों के मन में इज्जत पैदा करने की । हजारों वर्षों से दो भिन्न धरातलों पर विकसित हो रही नाट्य परम्पराओं का मिलन सदा समन्वित हो पाया हो, एक-जी हो पाया हो सो नहीं पर जहाँ हो पाया है वहाँ एक नये रस, नये आनन्द, नये जोग और नयी ताकत का अनुभव जरूर होता है और यही नाट्य जगत को हबीब तनवीर के योगदान का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है ।

हमें पता है इस्लाम में वृत्त-परस्ती की मुमानियत है । तिस पर हबीब के वालिद हाफिज मुहम्मद हयात खान हाफिज बहुत मजहबी शख्स थे ता अर्ट वगैरह की दिशा में उनसे कुछ बढ़ावा मिलने का सवाल ही नहीं था लेकिन वालिद के अलावा परिवार के और लोग किसी न किसी रूप में जुड़े थे मगीत और साहित्य से । एक मामू बड़े अच्छे गायक थे शास्त्रीय संगीत के, दूसरे शेर बहुत अच्छे लिखते थे । बड़े भाई रायपुर की कालीबाड़ी से जुड़े थे और नाटकों में भाग लिया करते थे । जी हाँ, रायपुर में भी कालीबाड़ी थी । दरअसल बंगाली जहा-जहा भी गये, उन्होंने कालीबाड़ी बनायी जो असलियत में आर्ट और कल्चर का सेंटर हुआ करती है । हबीब तनवीर का थियेटर के साथ पहला परिचय हुआ रायपुर की कालीबाड़ी के नाटकों के माध्यम से ।

भाई नाटक में पार्ट करते थे और हबीब मन्सूर से उन्हें देखा करते थे, उनके साथ हँसते थे, उनके साथ रोते थे। बचपन में देखे नाटक 'मुहब्बत का फूल' की चर्चा करते हुए वे बोले—

“रायपुर की कालीबाड़ी में जाकर मैं नाटक देखा करता था। एक पारसी नाटक था 'मुहब्बत का फूल' हाफिज अब्दुल्ला का। उसमें मेरे बड़े भाई जनाना पार्ट किया करते थे। मुझे उस नाटक की बहुत अच्छी तरह याद है। नाटक शुरू होने का टाइम आठ बजे का होता तो आठ बजे से हॉल के बाहर बेंड बजना शुरू होता और जब तक बेंड बज रहा होता तब तक समझ लीजिए नाटक शुरू नहीं हुआ है। आठ का नौ, साढ़े नौ बज जाता, लोग इतमोमान से आते रहते। साढ़े नौ बजे तक बाहर बेंड बजता मतलब कि नाटक अब शुरू होनेवाला है। वही बेंड भीतर जाकर आरकेस्ट्रा बन जाता। उन दिनों पर्दा नीचे से ऊपर उठा था, लपेटवा पर्दा होता था। अब तो आड़े खुलता है या पूरा सीधा ऊपर जाता है। तब बास के रोलर पर लपेटकर जाता था। मुझे बहुत अच्छी तरह याद है। पर्दे के पीछे तमाम ऐक्टर लोग सजकर खड़े रहते थे प्रार्थना के लिए। पर्दा लिपटना शुरू होता तो सबसे पहले उनके पांव नजर आते, उसके बाद जिस्म और उसके बाद चेहरा। आखिरी चीज चेहरा होती थी जो सबसे सजा होता था। इस तरह एक-एक करके ऐक्टर को देखने का ड्रैमैटिक असर कुछ और ही होता था। इस चीज को मैंने बाद में बम्बई में कथकली में देखा। हनुमान की एंट्री थी, कम से कम बीस मिनट लगाये। पर्दे के पीछे हनुमान छिपा रहा। पहले उसने अपने नाखून दिखाये, पर्दे के नीचे से अपनी सजावट दिखायी, फिर मुकुट का जरा सा फुदना दिखाया और फिर आख तक पर्दा को नीचा करके पूरा मुकुट दिखा दिया और उसकी दसो उ गलिया पर्दे पे नजर आने लगी। नाखून चमकते हुए, पालिश किये हुए। बहुत अच्छा सजा हुआ—सफेद, सुनहरे और सुर्ख रंग की यह स्कीम थी। जब बीस मिनट में धीरे-धीरे अपने को प्रगट करते हुए हनुमान ने रपता-रपता पर्दे को फेक दिया तो मैं देखता रह गया, अजीब एक अनुभव था मेरे लिए। अगर वह एक साथ एंट्री ले लेता तो इतनी सजावट को एक नजर में देख लेना मुश्किल होता। जिस तरह माइकेन अजिलो के म्यूरल को एक बार में पूरा देखकर उसे नहीं समझा जा सकता और आर्ट की किताबों में उसके एक-एक टुकड़े छपते हैं, क्रॉस सेक्शन और उन सबको

अलग-अलग स्टडी करने के बाद ही पूरा म्यूरल एक साथ देखा और समझा जा सकता है, उसकी हर बारीकी का लुत्फ उठाया जा सकता है उसी तरह कथकली के हनुमान का भी पहले एक-एक हिस्सा, एक-एक टुकड़ा दिखाया फिर धीरे-धीरे करके पूरा हनुमान सामने आया कि यह है टोटल हनुमान। वह अनुभव और नाटक में लिपटवा पर्दे का उठना इन दोनों का मेरे ऊपर बहुत असर हुआ। 'मुहब्बत का फूल' में आशिक को जजीरो में बाधकर गुफा में डाल दिया जाता है। उसकी माशूका उसे रोते-रोते ढूँढती फिरती है। माशूका का रोल मेरे भाई किया करते थे तो उनके साथ-साथ मैं भी रोया करता था। उस रोने का किस्सा यहाँ तक चला कि मेरे मुहल्ले में एक दर्जी थे नबी मिया। उन्हें नाटक में मेरे रोने के वाक्यों का पता था। तब ही नही बाद में भी रायपुर जाने पर जब भी मैं गोल बाजार से गुजरता वे मुझे बाबा बाबा कहकर पुकारते, चाय-वाय पिलाते और फिर वही मजाक कि 'कैसा रोये थे 'मुहब्बत का फूल' देखकर, क्यों?' मतलब मैं अच्छा खासा जवान हो गया था उस पर भी उनका यह मजाक कायम था।

“मुहब्बत का फूल की कई बातें मुझे खूब याद हैं। बहुत लुत्फ आता था। एक धमाका होता था और सीन बदल जाता था। कुछ चक्री मच (रिवालिग स्टेज) जैसा था, खडखड-खडखड चीजे करती थी, इधर रफता-रफता मालूम हुआ कि पहाड़-वहाड़ आ गये—पेट किये पर्दे तमाम। वो सब बहुत अच्छा लगता था, रंगीन रोशनी वगैरह रहती थी। जरूर ही इसका गहरा असर हुआ होगा मुझ पर तभी आज तक ये सब बातें याद हैं। बचपन का एक और किस्सा याद है—मैं दूसरी अंग्रेजी में था तब का। तब वहाँ कोई जलसा-वलसा होनेवाला था। उसके लिए हमारे फारसी के टीचर ने (जो बाद में मेरे बहनोई हुए) एक नाटक लिखा 'दुरे यतीम उर्फ पालिशवाला।' उस जमाने में फारसी थियेटर में यूँ ही होता था फला फला उर्फ फला। उसमें मुझे पार्ट दिया पालिशवाले का जिसकी एक अमीर आदमी बहुत मदद करता है, उसे तालीम दिलवाता है, बाहर भेजता है वगैरह वगैरह। उस वक्त मेरी उम्र रही होगी बारह-तेरह साल। मेरा यह पहला नाटक था जिसमें मैंने हीरो का काम किया। हमारे ड्रिल मास्टर थे मोहियुद्दीन साहब, बड़ा अच्छा जिस्म था उनका। उन्होंने डाइरेक्शन दिया था। उसमें पहले एक बड़ी लबी तकरीर थी, एक टुकड़ा मुझे अभी तक याद है—'दुनिया मक्कारो, अब्लफरेब दुनिया, गंगीबो को सतानेवाली

फलां चीज को ऐसा करनेवाली दुनिया ।’ एक हाथ माथे पर दूसरा यो रखके एट्टी लेनी थी. हर लपज पर एक मुद्रा थी, एक अदा थी, वैसे ही करने को कहा गया हमसे । आज सोचकर हसी आती है कि किस तरह का डाइरेक्शन था, हर स्वर पर जोर पर उस वक्त मैं उससे बहुत प्रभावित था । बहुत अक्रीदन थी, बहुत श्रद्धा थी उस वक्त अपने टीचरो के प्रति । तो ये नाटक बहुत कामयाब रहा, स्कूल का ड्रामा था, लडको ने देखा ।

“उसी जमाने में शेक्सपीयर के ‘किंग जान’ का एक सीन हमने अंग्रेजी में किया था— ‘ह्यूबर्ट और प्रिंस आर्थर’ । मेरे बचपन के एक बड़े अच्छे दोस्त थे अजीज हामिद मदनी । बड़े अच्छे शायर थे, अब पाकिस्तान में हैं । हम दोनों साथ-साथ शायरी किया करते थे । वे बने थे ह्यूबर्ट और मैं प्रिंस आर्थर । हमने वो सीन किया था जिसमें ह्यूबर्ट प्रिंस आर्थर की आख फोड़ने आता है, कड़ी-कड़ी बातें कहता भी है लेकिन आखीर में बदल जाता है और आख नहीं फोड़ता । बस, इतना सा सीन किया था हमने पर याद है । यह अनुभव था स्कूल का । फिर आ गया कालेज में । उस जमाने में मारिस कालेज में मुझसे सीनियर हुआ करते थे किशोर साहू । नागपुर का मारिस कालेज अलग है, लखनऊ वाले म्यूजिक के मारिस कालेज से । नागपुर के डिप्टी कमिश्नर थे मारिस साहब, उन्हीं के नाम पर था । अब तो शायद नाम भी बदल गया होगा । तो किशोर साहू उन दिनों कालेज में काफी ऐक्टिव थे, ड्रैमेटिक्स में भाग वगैरह लिया करते थे । मुझे भी जब मौका मिलता, करता और इस तरह करते-करते बी० ए० की तालीम पूरी हुई और मेरे थियेटर का पहला दौर भी ।”

पहले बताया जा चुका है कि एम० ए० के लिए हबीब तनवीर अलीगढ़ गये लेकिन आगे की गाड़ी सीधी पटरी पर न चली । वालिद चाहते थे लडका तालीम पूरी करके आइ० सी० एस० बने । हबीब पढ़ने में अच्छे थे, फर्स्ट डिविजन मिलता था लेकिन इनकी नजर लगी बम्बई की ओर । कुछ फोटो वगैरह खिचवाकर भेजी लेकिन बम्बई जाकर प्रोड्यूसरो-डायरेक्टरों के पीछे घूमने की, उनकी जी-हुजूरी करने की सामर्थ्य नहीं थी । साधारण मिडिल क्लास वाले वालिद—उन्हे न तो फिल्म में जाने का इरादा रास आनेवाला था और न ही पास में लुटाने को पैसे थे । इधर हुआ यह कि पढाई से जी उचटने लगा । कुछ राजनीति की ओर झुकाव भी होने लगा चुनाचे सब कुछ अनिश्चित, डावाडोल । लेकिन कुछ किये बिना गुजारा



होनेवाला नहीं था। उन दिनों लडाई का जमाना था, बात सन् 1945 की है सो नेवी के लिए अर्जी की। जिला के स्तर पर तो रायपुर और नागपुर में निकल गये लेकिन तीसरा और आखिरी टेस्ट था लोनावला में, वहाँ आई० व्ही० वगैरह में पास हो गये लेकिन शारीरिक टेस्ट में फेल। दस-बारह लोगों के साथ एक पुल पार करना था, निश्चित समय के अंदर। और सब निकल गये, ये खड़े सोचते ही रह गये। नतीजा फेल, नेवी में भर्ती होने का सपना खत्म हुआ।

वैसे इस टेस्ट में नाकामयाब होने का कोई खास गम हबीब साहब को नहीं हुआ क्योंकि एक नजर तो बम्बई की ओर थी ही। मन में तै कर रखा था कि लोनावला में न हुआ तो बम्बई चले जायेंगे। आने-जाने का दूसरे दर्जे का टिकट था। न जान न पहचान किसी से। दो-चार दिन फुटपाथ पर काटे फिर एक दिन मिल गये जुलफिकार अली बुखारी। अपने साथ रेडियो ले गये, वे उन दिनों रेडियो में प्रोड्यूसर थे। वे अपने साथ ही ले गये सोवो हाउस जिसके मालिक थे ताहिर अली। उनकी एक गोला-बारूद की फैक्टरी थी, लडाई की कुछ चीजें बनती थीं सो उन्होंने वहाँ सुपरवाइजर की नौकरी दे दी हबीब को। गाड़ी चल पड़ी और चल ही नहीं पड़ी दौड़ने लगी क्योंकि इन्हें अगली सफलता जो मिली वह ताज्जुब में डालनेवाली थी। एक दिन ये 'पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे' देखने के बाद पास के एक रेस्त्रा में बैठे बातचीत कर रहे थे। बगल के टेबुल पर बैठे मद्रास के एक डाइरेक्टर सूर्यम इनकी बातें सुन रहे थे। बातचीत से यह अंदाज लगने पर कि हबीब की फिल्म में काम करने में रुचि हो सकती है, वे उठकर इनके टेबुल पर आये, बातचीत की। उन्हें अपनी नयी फिल्म 'आप के लिए' के हीरो की तलाश थी, उन्होंने हबीब को बुक कर लिया। मतलब यह कि बम्बई पहुंचने के हफ्ते भर के भीतर हबीब साहब को नौकरी भी मिल गयी और फिल्म में काम भी। वापसी टिकट था ही, फिल्मवालों ने कुछ एडवॉन्स दे दिया। घर आकर सामान वगैरह लेकर बम्बई दुबारा पहुंचे। फिल्म में काम भी किया और गोला-बारूद की फैक्टरी में सुपरवाइजर की नौकरी भी। इतना ही नहीं बुखारी साहब की कृपा से रेडियो के प्रोग्राम भी मिलते रहे खूब और फिल्मों का रिव्यू करना भी शुरू कर दिया। नये-नये थे, खून में गर्मी थी, तीखी समालोचना करने लगे। एक दिन बाबूराव पटेल बुखारी से मिलने आये। उन्होंने हबीब को समझाया कि ऐसी खरी आलोचना मत किया करो,

फिल्म इंडस्ट्री में गुंडे भरे हैं, नुकसान होने पर वे तुम्हें नहीं छोड़ेंगे। फिर हसकर बोले—‘मेरे दफ्तर में आ जाओ, मैं गुंडों का गुंडा हूँ, वहाँ होने से कोई तुम्हारा बाल बाका नहीं कर सकेगा।’ खैर, हबीब स्कनेवाले नहीं थे, बात टाल गये। फिल्म के रिव्यू का यह सिलसिला जो सन् 1946 में शुरू हुआ, करीब दो दशकों तक कायम रहा और फिल्म तथा नाटक दोनों की खुली समीक्षा हबीब करते रहे। समीक्षक का क्या रोल होना चाहिए इस बारे में बहुत बाद में जून 1970 में दिल्ली की अंग्रेजी रंग-पत्रिका इन्क्यूट में प्रकाशित एक बातचीत में अभीक घोष के प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने बहुत साफ शब्दों में कहा—

“दिल्ली के अखबारों में छपनेवाली समीक्षा निचले दर्जे की होती है। यह रिपोर्टिंग अधिक समीक्षा कम होती है। जानकार आदमी की समीक्षा भी यह नहीं होती। मुझे पता है कि यह कहा जाता रहा है कि नाटक के डाइरेक्टर को समीक्षक नहीं होना चाहिए लेकिन सामान्य रूप से यह बात ठीक नहीं, नहीं कही जानी चाहिए। वैसे मैं जानता हूँ कि दिल्ली के केस में और जिस तरह का थियेटर क्रिटिसिज्म आजकल हो रहा है, उसको देखते हुए यह ठीक है। मैं कहना चाहता हूँ कि डाइरेक्टर-प्रोड्यूसर के समीक्षा न करने से फर्क पड़ेगा। दूसरे शब्दों में यह कि आम तौर पर दिल्ली की थियेटर समीक्षा में आबजेक्टिव क्रिटिसिज्म, फार्म और खेले गये नाटक के कथानक आदि के विश्लेषण का अभाव रहता है।

“यह सही है कि अभी हाल तक, दो साल पहले तक मैं क्रिटिक था और मैं मानता हूँ कि मेरा क्रिटिसिज्म बहुत अच्छा होता था, वैसे ही जैसे कि मेरे नाटक। मैं छोड़ा तो केवल इसलिए कि मैं उतना समय नहीं निकाल पाता था। मुझे यह भी लगा कि कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरा डाइरेक्टर मेरे क्रिटिक पर हावी हो जाता हो और मैं समीक्षा करते समय अपनी डाइरेक्टर वाली दृष्टि से प्रभावित रहता होऊँ—खासकर तब जब मैं उतना ऐक्टिव नहीं रह गया था। मैंने नाटक का क्रिटिसिज्म कुठित (frustrated) या निष्क्रिय (in-active) होने के कारण नहीं शुरू किया था। यह तो मैंने शुरू किया पाँचवें दशक में। दरअसल कुठित तो मैं अब हूँ। आदमी अपने को बंधा-बन्धा महसूस करता है। पहले, थियेटर पूरे समय व्यस्त रखता था, आदमी को काम की चिंता नहीं रहती थी, किसी तरह गुजारा कर लेता था। अब रहने का स्तर ऊँचा हो गया है, काम के बिना चलता नहीं इसलिए नौकरी

जहूरी हो गयी है। थियेटर से दूसरे तरह का लगाव हुआ, वह शाम की मौजमस्ती और तफरीह का सन्धन भर अब नहीं रह गया। लिखना विलास हो गया। दरअसल मैंने समीक्षा छोड़ी समय के अभाव के कारण।

‘एक बात और कहूँ। आम तौर पर नाटक करनेवाले क्रिटिक से असंतुष्ट रहते हैं क्योंकि नाटक की क्रिटिसिज्म का स्तर बहुत नीचा होता है। क्रिटिक या तो बिना औचित्य के किसी नाटक की वाही-तवाही कर देते हैं या फिर तारीफ के पुल बांध देते हैं। आम तौर पर किसी का ढग से क्रिटिसिज्म किया ही नहीं जाता। ‘वीक प्रोडक्शन’ ‘शौकिया अभिनय’ ‘न कथा न कथानक’ आदि जैसे फतवे कोई मानी नहीं रखते। ‘आगरा बाजार’ के बारे में हिन्दुस्तान टाइम्स ने ‘नो प्लेट, नो थीम’ का फतवा दिया था, बात मेरे गले के नीचे नहीं उतरी। शायद क्रिटिक का मतलब कमजोर कथानक या कमजोर शैली से था। सचमुच यदि क्रिटिक इस उक्ति से दर्शक या नाटक दल तक कोई खास बात पहुँचाना चाहता हो तो उसे और खुलासा करना होगा। दर्शकों का भी ऐसा ही आलसी रवैया रहता है, न सोचे-समझेंगे, न गहरे भ्रमों में पड़ेंगे। एक क्रिटिक को अधिक गहराई में जाना चाहिए। मेरे कहने का यह मकसद नहीं कि वह नाटक की कथा और उसकी बुनावट का विस्तार से वर्णन करे—वैसे आम तौर पर होता यही है। थियेटर साहित्यिक माध्यम नहीं है इसलिए किसी प्रोडक्शन की नाटकीय प्रकृति और विशेषता की गहराई से जाच-पड़ताल की जानी चाहिए न कि कुछ चालू फिकरे कसकर छुट्टी पा लेना चाहिए। मसलन यह फिकरा कि—ऐक्टिंग की अपरिपक्वता (immaturity)। मुझे किसी नाटक में ऐक्टरो का चुनाव करने में बहुत मुश्किल का सामना करना पड़ता है क्योंकि मैं सही स्पीच पर बहुत जोर देता हूँ। अधिकतर ऐक्टरो का साहित्य से कोई वास्ता नहीं होता। मेरे ऐक्टरो में अधिकतर बिना पढ़े-लिखे हैं, वैसे यह उनका गुण भी है। यदि आप एक ऐतिहासिक नाटक में भाग ले रहे हैं तो यह जरूरी है कि आप उस जमाने के साहित्य, भाषा, बोलचाल के लहज और लय के साथ ही हाथ-पाव हिलाने और खड़े होने वगैरह के तरीके से परिचित हों। अब यह क्रिटिक के देखने की बात है कि ऐक्टर का चुनाव करते समय डाइरेक्टर ने कितनी बातों को ज्यादा अहमियत दी है। अपरिपक्वता (immaturity) बड़ा चालू लफ्ज है। हम सभी अपरिपक्व हैं। हालात में सुधार हुआ है लेकिन अभी भी थियेटर पेशेवर नहीं हुआ है। यदि पेशेवर थियेटर होता तो थियेटर की एक मार्केट होती, मुकाबला

होता, स्पर्द्धा होती ओर अच्छे से अच्छे आर्टिस्ट हमे मिलते । लेकिन आज क्या स्थिति है । आज एक लडका कालेज से मान लीजिए, इजीनियरिंग पास करके निकलता है । उसे नाटक करने का शौक है, काबलियत भी है उसमे पर उसके सामने चुनाव की गुंजाइश कहा है—उसे तो इजीनियरिंग की नौकरी मे ही जाना होगा । नतीजा यह कि उसकी काबलियत को फलने-फूलने का मौका ही नहीं मिलता । हकीकत यह है कि थियेटर मे आमतौर पर वही लोग आते है जो दोयम दर्जे के होते है । नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा मे आनेवाले लडको मे बहुतो की हालत वही है—दो सौ रुपये महीने की स्कालरशिप उनका सहारा बनती है । यही बात क्रिटिक पर भी लागू होती है । इसीलिए हमारे यहा क्रिटिसिजम नहीं रिपोर्टिंग होती है—उकसाने, तारीफ करने या फिर फटकारने सभी कामो के लिए सभी दृष्टियो से ।” (इन्कैट, जून 1970 मे प्रकाशित बातचीत पर आधारित) ।

हाँ, तो बम्बई रहने के दौरान हबीब फिल्मो और नाटको दोनो से जुडे । उस जमाने मे बम्बई मे बननेवाली फिल्म ‘धरती का लाल’ का विशेष महत्व है । बिजन भट्टाचार्य लिखित ‘नबान्न’ और कृशनचंदर की कहानी ‘अन्नदाता’ पर आधारित इस फिल्म मे शम्भु मित्र, तृप्ति मित्र एवं जबानबदी नाटक के मूल कलाकारो मे से कइयो ने अभिनय किया । निर्देशक थे खवाजा अहमद अब्बास । ‘सम्भवत’ आधुनिक शौकिया रंगमंच और वामपथी विचारधारा से प्रभावित कलाकारो को लेकर बनायी गई यह पहली फिल्म थी जो अनेक मानो मे अपने युग की अन्यान्य फिल्मो से बहुत भिन्न थी । हबीब तनवीर ने इस ऐतिहासिक फिल्म मे तो काम नहीं किया लेकिन अब्बास की अन्यान्य फिल्मो ‘राही’ ‘दिया जले सारी रात’ तथा ‘आकाश’ मे किया । राही मे देवानंद प्रथम हीरो थे, हबीब तनवीर दूसरे । इसी प्रकार बेडेकर की फिल्म ‘लोकमान्य तिलक’ मे जागीरदार लोकमान्य थे और हबीब जेलर । उन्होने इस फिल्म मे बहुत कुछ सीखा, बहुत कुछ जाना । हबीब ने जिया सरहदी की फिल्म ‘फुटपाथ’ मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और साथ ही एस० के० ओझा की ‘नाज’, इजरा मीर की ‘बीते दिन’ आदि मे भी काम किया । ‘बीते दिन’ मे सवाद और गाने भी हबीब तनवीर के थे । कहने का मतलब यह कि उन दिनों कुल मिलाकर सात-आठ फिल्मो मे अभिनय किया । उसके बाद फिल्मो मे काम करने का क्रम ढीला पड गया—

ढीला क्या पडा, कहना चाहिए छूट ही गया। वर्षों बाद सन् 1986 में हबीब तनवीर ने 'यह वह मजिल तो नहीं' नामक फिल्म में श्रेष्ठ अभिनय किया। उसे देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। अत्यन्त सहज रूप से मन की परतो का उद्घाटन हबीब करते गये हैं, दर्शक मंत्रमुग्ध-सा देखता रहता है।

बम्बई प्रवास के दौरान ही हबीब तनवीर ने फिल्म इंडिया के सहायक एडिटर के रूप में भी काम किया। फिल्म इंडिया की पूरी फाइल नेशनल फिल्म आरकाइव, पुणे में सुरक्षित है। आश्चर्य है कि पर्याप्त कम उम्र में फिल्म में हीरो का रोल मिलने के बावजूद और बाइस-चौबीस वर्ष की कच्ची उम्र में ही बम्बई के फिल्म जगत से जुड़ने के बावजूद हबीब उससे बंधे नहीं, बंधे तो थियेटर से। असल में थियेटर से जुड़ने का शुभारंभ भी बम्बई में ही हुआ। उसके पहले तक स्कूल कालेज के नाटकों में जरूर भाग लिया था लेकिन ऐसा तो बहुतरे लड़के करते हैं और बाद में थियेटर से उनका कोई वास्ता नहीं रह जाता। हबीब की जड़े गहरी थीं, मन का उस ओर रुझान अधिक तीव्र था। ख्वाजा अहमद अब्बास उन दिनों इप्ता अर्थात् IPTA अर्थात् इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसियेशन से गहराई से जुड़े थे। उनके साथ ही सक्रिय थे बलराज साहनी और दीना गांधी (बाद में पाठक)। हबीब ने पहला नाटक किया बलराज के निर्देशन में। काश्मीर की आजादी से जुड़ा कथानक था—डोगरा आंदोलन से सम्बन्धित था। लेखक और निर्देशक दोनों ही थे बलराज साहनी। उसमें हीरो था एक आजादी-पसंद शायर, हबीब ने वह रोल किया। उसके बाद किया गया—'दकन की एक रात'। एक चीनी कथा पर आधारित इस नाटक के लेखक ये विश्वमित्र आदिल जो उर्दू के शायर थे, इप्ता से जुड़े थे। शायद कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर थे, बाद में फिल्मों में भी गये। नाटक का सम्बन्ध था तेलगाना के आंदोलन से। बलराज के निर्देशन में तैयारी शुरू हुई। हबीब अस्सी-नब्बे वर्ष के एक ऐसे बूढ़े की भूमिका कर रहे थे जिसका बेटा मर गया था। यह नाटक सन् 1948 में इलाहाबाद में होने वाली इप्ता की कान्फरेन्स में खेला जानेवाला था। बम्बई से तैयारी करके ये लोग इलाहाबाद पहुंचे। आगरा से राजेन्द्र रघुवशी, नेमिचंद्र जैन वगैरह आये थे, और भी बहुतरे लोग थे। इलाहाबाद में भी रिहर्सल चालू रहा। एक दिन का वाकया हबीब तनवीर के शब्दों में सुनिए—

“रात दो बजे तक रिहर्सल होता रहा । बलराज मेरे पीछे पड़े थे कि मैं बूढ़ा ठीक से नहीं बन पा रहा था खास तौर पर बेटे के मरने पर मेरा रोना बहुत बनावटी लग रहा था । मुझसे हो ही नहीं रहा था कि बलराज ने मुझे जोर का एक तमाचा लगाया, गाल पर पाचो उ गलिया उभर आयी । बोले—‘अब रोओ और बोलो’ । रोना तो आ ही गया था, रोते-रोते डायलग बोला । डायलग खत्म होने पर उन्होंने लिपटा-विपटा लिया और बोले कि— ‘अब तुम ठीक से रो सकोगे वरना तुम्हारा रोना इस कदर बनावटी हो रहा था कि मेरे पास और कोई उपाय नहीं था । मैंने तुम्हें गुस्से में नहीं मारा था, जान-बूझकर मारा था । तुम्हें रोना नहीं आ रहा था, तुम्हें एक तजुबे की जरूरत थी जिसे याद करके तुम रो सकते, उस तजुबे को हूबहू उतार सकते, री-प्रोड्यूस कर सकते । मैंने तुम्हें यह तजुबा करवाया । स्टान्सल-वास्की ने याददाश्त के सिलसिले में मसक्युलर मेमरी की बात कही है । मैं उन सब पर बहुत विश्वास नहीं करता लेकिन तुम्हारे साथ वह तरीका आजमाने के सिवा और कोई उपाय नहीं था ।’ उस समय तो बात बन गयी, तजुबे ने मेरी मदद की पर मन में सोचा—बराबर यह तरीका मुझ पर आजमाया गया तो मेरी क्या गति होगी । खैर, ऐसा मौका नहीं पड़ा । बाद में समझ में आया कि बलराज के कहने में एक हद तक सच्चाई थी । मैं बाली में एक कलाकार से मिला, नामी डासर थे, देश-विदेश घूम आये थे । वे बाली में बच्चों को नाच सिखा रहे थे । बाली में नाचते समय पीठ को थोड़ा झुकाकर गर्दन को सामने करके नाचते हैं । वे अपने हाथ पीछे से बच्चों के हाथों के नीचे से ले जाकर दोनों हाथों को गर्दन के ऊपर रखकर और उगलियों को बंद करके गर्दन को झुकाते थे ताकि उनकी पीठ का खम ठीक से कायम हो जाये । पूछने पर उन्होंने भी मसक्युलर मेमरी ( पेशीगत याददाश्त ) की बात कही । बोले—इन बातों को समझाने में बहुत बातें कहनी पड़ती हैं फिर भी पूरा मनलब नहीं समझाया जा सकता । यो करके बता देने से उनकी पेशियों को वह याद रह जाता है और फिर बच्चे अपने आप वह खम पकड़ लेते हैं । तो बलराज द्वारा सिखाया वह तजुबा और बाली के डासर की उस बात ने मुझ पर असर डाला, मेरी याददाश्त में ये आज तक बनी है ।

“इलाहाबाद का एक और किस्सा सुनाऊ । वहाँ ‘दकन की एक रात’ के साथ ही हम ‘जादू की कुर्सी’ नाम का नाटक भी ले गये थे । जबरदस्त व्यंग्य था । हम सबने मिलकर इमप्रोवाइज किया था । मोहन सहगल

डाइरेक्टर थे, बलराज मेन रोल कर रहे थे, मैं जज बना था, दीना रिट पिटीशन ( writ petition ) लानेवाली थी। यह बहुत मशहूर हुआ उस जमाने में—ऐसा कि पुलिस पीछे लग गयी। उसे शक हुआ कि इसमें कुछ दहशत फैलानेवाली बातें हैं। हम इलाहाबाद से जबलपुर पहुंचे तो वहां पुलिस पूछती फिरी कि 'इप्टा साहब कहा ठहरे हैं ? कहा है ?'। बड़ा मजा आया। पुलिस इप्टा साहब को खोजती रही और हम अपना नाटक करते रहे। लेकिन शो तकरीबन रोकना पड़ा, पुलिस को असलियत का पता चल गया था, वह पहुंच गयी थी। खैर, जबलपुर में शो कर-कराके हमलोग फौरन बम्बई चले आये। बम्बई में उन दिनों एक और एजिटेशन चल रहा था। देश आजाद तो हो गया था लेकिन कामनवेल्थ का मेम्बर बना रहा। कम्युनिस्ट पार्टी का कहना था कि यह आजादी असली आजादी नहीं है। हम अभी भी अंग्रेजों के गुलाम हैं, हमें इनसे मुक्ति पाना है। अपनी ही सरकार ने आंदोलन को दबाने की कोशिश की, पुलिस ने कार्यवाही की हैदराबाद में, यहाँ-वहाँ। बम्बई में भी बहुत कुछ हुआ। इप्टा तो कम्युनिस्ट पार्टी का सांस्कृतिक विंग था ही, पार्टी की लाइन इप्टा के प्रोग्रामों से जाहिर होती थी। मैं पार्टी का मेम्बर नहीं था लेकिन चलता था उमी के दिखलाये रास्ते पर। एक जुलूस निकला जिसमें हम सब थे। लाठी चली, गोली चली, हमारा एक साथी मर भी गया। मुझ भी हल्की सी लाठी लगी। इप्टा के सब बड़े-बड़े लीडर पकड़ लिये गये—बलराज भी अंदर, दीना भी अंदर। मैं बच गया और अडरग्राउंड हो गया। मैं अपने आपको लीडर समझ रहा था इसलिए डॉक्टर के पास नहीं गया कि कोई पहचान लेगा और मैं पकड़ लिया जाऊँगा। कई दिनों बाद सुरेन्द्र अहूजा को पता चला तो मेरे पास आये और बोले—'आपकी कोई तलाश नहीं कर रहा है। आपको जिनकी जरूरत थी उनको उन्होंने पकड़ लिया। आप इतने बड़े लीडर नहीं हैं कि आपको अडरग्राउंड जाने की जरूरत पड़े। आप बाहर निकलिए। आदेश आया है, चलकर काम कीजिए।' मेरा सारा भ्रम टूट गया। मैं उन दिनों इप्टा का सेक्रेटरी था, आरगनाइजर था, लेखक और ऐक्टर तो था ही। और हा, पहली बार डाइरेक्टर बनने भी जा रहा था। सो मैं अडरग्राउंड से अपरग्राउंड में आ गया।

“बम्बई के इप्टा की उन दिनों की कुछ बातें जिनसे मेरा जाती ताल्लुक था, जिन चीजों का मुझ पर गालिबन असर पड़ा उनके बारे में बतलाऊ पहले। ऑपेरा हाउस के सामने एक हॉल है—शायद दामोदर हॉल। वहाँ

अलग-अलग खोलियो मे हम बैठते थे—अलग-अलग खोलियो मे अलग-अलग विंग— मराठी विंग, हिन्दी विंग, तेलुगु विंग । एक गुजराती विंग भी था । मराठी विंग मे अमर शेख थे । सीधे गाव से आकर इस आदोलन से जुडे । अन्ना भाऊ साठे मद्दजर तबके के आदमी थे, बडी उम्दा कहानी लिखते थे । गोलवलकर थे, वे भी गाव से जुडे थे । वा० मे फिल्मो के जाने-माने गीतकार शैलेन्द्र उन दिनो हिन्दी विंग मे थे, गाते भी थे । मोहन डासर थे जो बाद मे फिल्मो मे मशहूर हुए । अब आप सोचिए, कैसे-कैसे लोग थे साथ । पढे-लिखे नही थे पर गाव से जुडे थे, उम्मा कहानिया लिख सकते थे । कल्पना किसी की बपौती नही होती । साठे के पास भाषा टूटी-फूटी होती थी, बम्बई मे जो बोली जाती है उसी जवान मे लिखता था पर बडी उम्दा चीज लिखता था । एक नयापन, एक तीखापन होता था उसमे । उन सबका यकीनन मुझ पर असर पडता था । जनरल बाँडी की मीटिंग मे हम सब लोग साथ बैठते थे, एक साथ मिलकर सोचते थे । हमारे एक मद्रास के साथी थे रामाराव । वैसे वे आरगनाइजर ज्यादा आर्टिस्ट कम थे मगर एक दिन उनको एक थीम सूभी कि इस पर ड्रामा किया जाये तो कैसा रहेगा । थीम बेकारी को लेकर थी, छोटी-सी डल-सी पर हमे कुरेद रही थी खासकर बलराज को । एक दिन हम सब बैठे । रामाराव ने उस कहानी को थोडा बढाया, मोहन सहगल उसे कुछ और आगे ले गये । दस-पद्रह मिनट के अदर एक छोटा सा स्किट निकल आया उसमे से । फिर उसमे दो-एक ऐक्टर आये, मै जुडा, दीना जुडी । निर्देशक थे मोहन सहगल । हमसे कहा गया अपने-अपने पार्ट के बारे मे सोचो तुमलोग । हम लोग अपने-अपने पार्ट के बारे मे सोचने रहे, इटरेस्टिंग बनाने के लिए उसे कॉमेडी का रूप दिया गया और वह धीरे-धीरे बढना रहा । बलराज ने बडी अच्छी कॉमेडी बनायी । दस-पद्रह मिनट का स्किट देखते-देखते डेढ घटे का नाटक बन गया और सब इम्प्रोवाइजेशन के बल पर हाथ के हाथ होता गया । हर ऐक्टर अपनी-अपनी चीज लाके जोडता और उसके अदर से एक अजीब हारमोनियस ब्लेड (सुसगत सम्मिश्रण) पैदा हो रहा था । वह मेरे लिए एक बडा तजुर्बा था, उसे सभी लोग आज तक याद करते है । अफसोस कि उसका स्क्रिप्ट हमारे पास नही रहा । हमारे एक साथी थे मुगली । उनका छोटा भाई नूरनबी अब्बासी बराबर आया करता था । उसका हाफिजा इतना तेज था कि उसे पूरा-पूरा नाटक याद हो जाता था देखते-देखते । कई बार सोचा कि उसके पाम ब्रेठकर नाटक लिख डालू पर वैसे कर नही पाया । नूर अभी मौजूद



तो हे पर उसे नाटक भूल गया, और किसी को भी याद नहीं रहा। यही वह नाटक था जिसके पीछे पुलिस इष्टा साहब को खोजती फिरी—‘जादू की कुर्सी’। ऐसी कलेक्टिव फक्शनिंग ( समवेत क्रियाकलाप ) थी इष्टा की उन दिनों।

“बड़ा तीखा पर मजेदार सटायर ( व्यंग्य ) था ‘जादू की कुर्सी’ में। किस्सा यो था कि जो पावर में आता था वह उस कुर्सी पर बैठते ही बदल जाता था। वो पार्ट बलराज खुद करते थे। नाटक शुरू यो होता था कि एक डाइरेक्टर स्टेज के ऊपर कुछ ऐक्टरों को लेकर एक नाटक तैयार कर रहे हैं। फिर एक कुर्सी आती है और उस पर बैठते ही बलराज बदल जाते थे जैसे पावर का नशा चढ़ गया हो, कुछ का कुछ बोलने लगते थे। बहुत ही हमानेवाला नाटक था। इस सिलसिले में एक बात कहूँ—बलराज इतना बड़ा ऐक्टर था, इतने तरह के रोल किये उसने फिल्मों में लेकिन किसी ने अदाज ही नहीं लगाया कि वह कितना बड़ा कॉमेडियन था। टाइमिंग का कैसा जबरदस्त सेस था उसे यह हम्ही जानते हैं। बलराज ने एक और नाटक निकाला था ‘दुकान’ लेकिन मुझे तो अच्छा नहीं लगता था क्योंकि उसमें वही घिसा-पिटा अभिनय करते थे। बाद में उसमें बहुत निखार आया लेकिन मैं तब की बात कर रहा हूँ जब वे बी०बी०सी० से सीधे आये थे। उनकी बीबी दमयन्ती पृथ्वीराज के साथ पृथ्वी थियेटर्स में काम करती थी, बड़ा अच्छा। यकायक मर गयी कालरा में। हम सब उसे बहुत चाहते थे, बहुत रज हुआ हमें। हा, तो बात ‘दुकान’ की हो रही थी। उसमें बलराज खूब रोते-घोते थे, न कोई लगाम था न मैच्योरिटी। मुझे बहुत खराब लगता था। खैर, बाद में जब देखा—करीब साल भर बाद—तब बहुत फर्क आ गया था, इतने मैच्योर हो गये थे बलराज। मुझे बड़ा अफसोस है कि उन्हें कामेडियन की तरह कभी नहीं लिया गया। बाद में उन्होंने ‘गवर्नमेन्ट इस्पेक्टर’ किया, और बाकी चीजे की। उन्होंने खुद को कामेडियन के रूप में पहचान लिया था। बड़ा सहज ऐक्टिंग था बलराज का, कोई जोर ही नहीं आता था उसे।”

हबीब तनवीर पुराने दिनों की याद में खो गये। बम्बई प्रवास के वे दिन, इष्टा के बैनर में किया गया काम, बलराज साहनी, दीना गांधी वगैरह का साथ, नुक्कड़ नाटकों का मंचन आदि। वह जमाना स्वतंत्रता प्राप्ति के आगे-पीछे के कुछेक वर्षों का था अर्थात् सन् 1944-45 से लेकर 1950-52

तक का। देश ने अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति पा ली थी लेकिन कम्यूनिस्ट आदर्शों के अनुसार सही मानो में हम स्वाधीन नहीं हुए थे क्योंकि कामनवेल्थ का सदस्य बने रहकर हम उस तंत्र के अभिन्न अंग के रूप में रह गये थे। सन् 1948 के आस-पास सारा काम इसी दृष्टि से किया जा रहा था। उन दिनों नुक्कड़ नाटक—जिसे तब स्ट्रीट प्ले कहते थे—का इस्तेमाल कम्यूनिस्ट विचार-पद्धति के प्रचार के लिए खूब किया गया। नुक्कड़ नाटकों में 'नकले मकानी' काफी चर्चित रहा। राजेन्द्र सिंह बेदी के इस नाटक में जोहरा सहगल और हबीब तनवीर ने मुख्य भूमिकाओं में अभिनय किया। निर्देशन संभवतः बलराज का था। बात सन् 46-47 की। इस क्रम में हबीब तनवीर ने भी 'शांतिदूत कामगार' (1948) नामक एक नुक्कड़ नाटक तैयार करवाया। स्ट्रीट प्ले के बारे में हबीब का कहना है कि इसका महत्व थोड़े समय के लिए हाता है। कोई मुद्दा सामने आता है तो उसे भट नाटक का रूप देकर जनता के सामने रख दिया जाता है। वह काम बन गया तो नाटक का महत्व खत्म हो गया, वह बेकार हो गया। पर हा, आपका काम बना, यह महत्व की बात है। 'शांतिदूत कामगार' उनके द्वारा निर्देशित पहला नाटक था। प्रस्तुति इष्टा की थी। आमतौर पर ये नुक्कड़ नाटक मिलो के गेट पर शिफ्ट बदलने के समय खेले जाते थे—अगली शिफ्ट के लिए आनेवाला दल मिल में घुसने से पहले और छुट्टी पाकर निकलनेवाला दल बाहर आकर इन नाटकों को देखता था। बड़े नाटकीय ढंग से सब काम होता था, लोगों को पता ही नहीं चलता था कि नाटक हो रहा है, वे जो कुछ घटित होता उसे वास्तविक घटना ही मानते। नाटक शुरू होता यूँ कि दो लोग पोस्टर, रंग और गोद का डब्बा लेकर पोस्टर लगाने आते। फिर पोस्टर लगाते-लगाते आपन में झगड़ बैठते। दो-एक और लोग जुट जाते, दो-एक औरते भी। एक पुलिसवाला आकर उन्हें पोस्टर लगाने को मना करता तब उनमें से एक किसी ऊँची चीज या जगह पर खड़ा होकर शांति पर एक तकरीर देता। तब तक काफी तमाशबीन इकट्ठा हो गये होते और तकरीर के साथ नाटक समाप्त हो जाता। लोगों ने सुन रखा था कि चीन में आंदोलनकारी यही करते थे, किसी सार्वजनिक जगह जैसे रेल्वॉ बगैरह में पहुँच गये, आपस में झगड़ा शुरू कर दिया और फिर जो कहना होता कह डालते। आस-पास के लोग उत्सुकता से बात सुनते। बम्बई में इष्टा इसी तरीके का इस्तेमाल करता था, मिल के दरवाजों पर मजमा जुटाकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करता था। एक बार की बात है कि नाटक के दौरान दूर से एक

पुलिसवाला आता दिखा। नाटक में पुलिस बने ऐक्टर ने सोचा कि उसे बिना बताये किसी और को वह पार्ट दे दिया गया है। वह अच्छी तरह नहीं कर रहा था यह सच था पर उसे बदला नहीं गया था। जब वह नये ऐक्टर से पार्ट करवाने पर नाराज होकर टोपी फेंककर जाने लगा तब उससे कहा गया कि 'वह सचमुच का पुलिस का आदमी है, नकली नहीं। तुम झटपट अपना रोल करके नौ-दो ग्यारह हो।' तब उसे समझ में आया और उसने अपना रोल किया। कभी-कभी ऐसे मजेदार किस्से हो जाया करते थे।

अब तक दीना गांधी और बलराज साहनी जेल से छूटकर आ चुके थे लेकिन सब कोलाइटिस के शिकार होकर लौटे थे, बुरा हाल था सबका। दीना अभिनेत्री के रूप में 'शांतिदूत कामगार' में हबीब के साथ शामिल थी। लेकिन इस जमाने में इप्ता केवल नुककड़ नाटक या प्रचारात्मक नाटक ही नहीं कर रहा था, और भी बहुत कुछ कर रहा था। इप्ता का अंग्रेजी विंग ओडेटम का 'वेटिंग फार लेफ्टी' और जे० बी० प्रीस्टली का 'ऐन इन्स्पेक्टर कॉल्स' कर रहा था, तो गुजराती विंग दीना गांधी के नेतृत्व में ऐतिहासिक नाटक कर रहा था जिसकी मूल कथा का सम्बन्ध किमानो के सघर्ष से था। स्वयं हबीब ने प्रेमचन्द की कहानी 'शतरज के खिलाड़ी' का नाट्य रूपांतर 'शतरज के मोहरे'। 1948 नाम से पहले एकाकी के रूप में किया फिर उसे बढ़ाकर पूर्णरूप नाटक का रूप दिया। निर्देशन दीना गांधी का था, दीना गांधी और हबीब दोनों अभिनय भी करते थे। प्रेमचन्द दिवस पर पहला प्रदर्शन किया फिर बम्बई में किया, हैदराबाद लेकर गये। बाद में दिल्ली में फिर से हबीब ने नयी प्रस्तुति तैयार की और कई बार किया। नाटक काफी बदलता गया पर मूल ढांचा वही था। असल में उस जमाने में इप्ता ने बड़े फलक पर अपने आदर्शों को प्रस्तुत किया। एक ओर सामन्तवाद को रखते थे तो दूसरी ओर किसानों के आदर्शों को मूक्षम ढंग से रखते थे। तात्कालिक मसलों पर उकसानेवाले नाटक भी किये जाते थे। चालो (बम्बई में निम्नवर्ग का आवास स्थल, वगैरह में रहनेवाले लोगों की समस्याओं, तकलीफों को जाना, समझा और फिर उस पर एक छोटा नाटक तैयार करके उन्हीं के बीच खेला दिया। इससे चाल में रहनेवालों के नामने अपनी समस्याएं और उभर कर आती थी, वे उस बारे में सुखर होते थे और सरकार का ध्यान भी उस ओर आकृष्ट होता था।

इष्टा के सम्बन्ध में हमें एक बात बहुत अच्छी तरह समझनी और ध्यान में रखनी चाहिए कि यह कम्युनिस्ट पार्टी का सांस्कृतिक विभाग था, इसका मूल उद्देश्य पार्टी के सिद्धान्तों का प्रचार करना था, पार्टी की गतिविधियों से आम जनता को परिचित कराना था। स्वतन्त्र रूप से कुछ भी सोचने या करने की छूट इष्टा के कलाकारों को नहीं थी, उनकी रीति और नीति पार्टी के हाई कमाण्ड द्वारा निर्धारित होती थी। यद्यपि इष्टा से जुड़े अनेक व्यक्ति कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य—कार्ड होल्डर—नहीं थे लेकिन वे पार्टी के सिद्धान्तों के प्रति पूरी तरह समर्पित थे। फलस्वरूप ऊपर के स्तर पर मतभेद या वैमनस्य होता तो उसका असर इष्टा की गतिविधियों पर पड़ता, पार्टी से जुड़े प्रगतिशील लेखक सच की गतिविधियों पर पड़ता। पी० सी० जोशी और बी० टी० रणदिवे में मतविरोध हुआ तो पार्टी में दो दल हो गये। बाद में भी बराबर मतविरोध होते रहे, पार्टी विभाजित होती रही—एक बार, दो बार। इसका नतीजा यह हुआ कि पहले इष्टा के कलाकार असमजस में रहे कि क्या करें, किसका साथ दें फिर धीरे-धीरे वे शिथिल पड़ने लगे और सन् 1948 तक आते-आते आंदोलन समाप्त-सा हो गया। जिस जोश, आत्म-विश्वास और समर्थन के साथ इष्टा के कलाकार सामने आये थे, जिस निष्ठा के साथ उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के सिद्धान्तों के अनुसार देशवासियों को जागरित करने का काम शुरू किया था वह सारा आंदोलन देखते-देखते दस-पंद्रह वर्षों की छोटी अवधि में ही (1943-44 से 1956) समाप्त हो गया, कलाकारों और सहयोगियों ने बड़ी निराशा और हताशा का अनुभव किया। महीनो-महीनो आधा पेट खाकर, घर-गृहस्थों की परवाह किये बिना दिन-दिनभर रिहर्सल करने और शाम को प्रदर्शन करनेवाले कलाकारों ने जब अपने कर्णधारों को मतविरोध में उलझते देखा और उनसे एक निश्चित दिशा-निर्देश पाने के बदले परस्पर विरोधी आदेश और डगित पाने शुरू किये तब उन्होंने बड़ी निराशा का अनुभव किया, उनके विश्वासों की सुदृढ़ नींव धीरे-धीरे हिलने और फिर ढहने लगी। वैसे उन दिनों की कष्टपूर्ण फिर भी सुखद स्मृतियों में आज भी इष्टा का हर पुराना साथी खो जाता है, विभोर होकर उन दिनों की तीव्र अनुभूतियों और सघर्ष का बयान करता है फिर वह चाहे नेमिचंद्र जैन हो या रेखा जैन, चाहे दीना गांधी (पाठक) हो या हवीब तनवीर और चाहे सजल राय चौधरी हो या रेवा राय चौधरी। इस सम्बन्ध में हवीब तनवीर ने बड़े विस्तार से बातें की। उनके ही शब्दों में—

“मैं पाचवे दशक में इप्ता से जुड़ा था। हमारे देश के आंदोलन में इसके पहले ही एक बात बहुत साफ हो गयी थी कि हमारा दुश्मन ब्रिटिश इम्पीरियलिज्म है और उसके खिलाफ अलग-अलग दिशाओं, अलग-अलग दृष्टिकोणवाली पार्टियों के लोग खड़े हो गये क्योंकि सबका मकसद एक था—ब्रिटिश इम्पीरियलिज्म को निकालना। अब चाहे यह निकालना गांधीजी के नामवाले करे या कोई और पर निकालना तै था। इस बारे में इप्ता का उद्देश्य बहुत साफ था लेकिन आजादी मिलने के बाद मन में यह सवाल उठने लगा कि क्या सचमुच आजादी मिल गयी? क्या सचमुच ब्रिटिश इम्पीरियलिज्म के शिकारों से हम आजाद हो सके हैं? द्वितीय विश्वयुद्ध तो समाप्त हो चुका था लेकिन कम्युनिस्ट अर्थ में विश्व-शान्ति की स्थापना नहीं हुई थी। उनकी शांति की व्याख्या अलग थी। उसके अनुसार शांति वही है जिसमें मजदूरों का आंदोलन पनप सके। उनकी मान्यता थी कि गिल्डर्स वार और कैपिटलिस्ट वार आदि के विरुद्ध ऐसा आंदोलन छेड़ना चाहिए जो सघर्ष के बावजूद शांति की ओर ले जाये। मार्क्सिस्ट विचारधारा के अनुसार शांति में मजदूरों का सघर्ष तो होगा, लेकिन युद्ध नहीं होगा। खैर, ये बातें होती रही, आंदोलन चलते रहे लेकिन धीरे-धीरे यह यकीन किया जाने लगा कि आजादी मिल गयी है, अंग्रेज चले भी गये हैं पर दुश्मन अभी भी बना है और बना है घर के अंदर। अगली लड़ाई उससे लड़नी है। लेकिन वह दुश्मन कौन है यह पता लगाना बड़ा मुश्किल था। पहले दुश्मन ब्रिटिश इम्पीरियलिज्म की शिनाख्त जितनी आसानी से हो गयी थी उतनी आसानी से इस घर के दुश्मन की नहीं हो पा रही थी। यही से राय मुख्तलिफ होने लगे शुरू हुई और पार्टी धीरे-धीरे टुकड़ों-टुकड़ों में बटने लगी। मेरी नजर में सन् 1948 के आसपास का समय इप्ता के लिए बड़ा महत्वपूर्ण (crucial) पेरियड था। आजादी मिलने के बाद ही पार्टी के नेता रणदिवे और पी० सी० जोशी की राय मुख्तलिफ होने लगी, पार्टी में बड़ा अलगाव आया। इसका सीधा असर पड़ा इप्ता पर। इस दृष्टि से सन् 1948 में इलाहाबाद में हुई पार्टी की कान्फरेस का बड़ा महत्व है। सारे देश के नेता जुटे थे लेकिन आगे आनेवाले सालों में पार्टी का क्या रवैया हो इस बारे में वे एकमत नहीं हो सके। चुनावों में पार्टी बंट गयी और इप्ता के काम पर इसका सीधा असर पड़ा। इप्ता की कोई अपनी पॉलिसी तो थी नहीं, पार्टी जो करने को कहती थी, वह करता था। मजा देखिए कि उम्र जमाने में कैसे-कैसे लोग इप्ता से जुड़े थे—उदयशंकर, रविशंकर, नरेन्द्र शर्मा, शंभु मित्र,

शचिन शकर सभी तो तहेदिल से इष्टा के मूवमेंट के साथ जुड़े थे, अपने को पार्टों का बिना तमगावाला सिपाही मानते थे लेकिन जन पार्टी में टूटन आयी तो इनकी समझ में ही नहीं आया कि ये क्या करे क्योंकि इष्टा तो पार्टी का सांस्कृतिक विभाग (कलचरल स्क्वाड) था, स्वतंत्र रूप से उसकी कोई पॉलिसी थी नहीं। लोग निराश हो गये, रास्ता दिखलानेवाले के अभाव में धीरे-धीरे रास्ता छोड़कर अलग हो गये। सन् 1948 की इलाहाबादवाली कान्फरेस इष्टा की मौत थी जिसका जनाजा निकला 1956 में। कई बार सोचकर हैरत होती है कि क्या काम किया था इष्टा ने और कैसे खत्म हो गया चुटकियो में। इष्टा के इतिहास में उदयशकर के अल्मोडा के स्कूल का अपना महत्व है। देखिए न, बंगाल में इतना बड़ा फैमीन हुआ, इसको लेकर आदोलन-सा चलाया इष्टा ने। 'स्पिरिट ऑफ इंडिया' नाम का प्रोग्राम तैयार किया गया, उसे लेकर सेट्रल स्क्वाड मुल्क के कोने-कोने में गया, लाखों रुपये जमा किये और यहाँ बंगाल में मदद की। दूसरा प्रोग्राम तैयार किया गया 'इंडिया इमौरटल'। कितनी जबरदस्त शक्ति थी मच की जिसने पूरे मुल्क को जोड़ दिया था लेकिन उस शक्ति का और इस्तेमाल नहीं किया गया, जितनी तेजी से यह सांस्कृतिक आदोलन उठा था उतनी ही तेजी से बैठ भी गया। किसी को कुछ समझ में ही नहीं आया कि क्या किया जाय।

'करीब आठ साल बाद निरजन सेन ने फिर से एक बार इष्टा को जिलाने की कोशिश की लेकिन वह कोशिश नाकामयाब रही। सच पूछिए तो सन् 1956 की कान्फरेस के बाद इष्टा का जनाजा ही निकल गया। निरजन सेन ने दिल्ली में बहुत बड़ी कान्फरेस की, यह उनका ही दमखम था कि हजारों लोगो को जुटा लिया, कलचरल प्रोग्राम भी किया लेकिन इष्टा के काम को आगे बढ़ाने का कोई रास्ता न निकाला जा सका और इष्टा खत्म हो गया। मैं तो उस समय मुल्क में था नहीं, इंग्लैंड में था पर सुना खूब जश्न मनाया गया, बहुत से पुराने साथी मिले, एक साथ बैठे, उन्होंने बातचीत की, पुरानी यादें ताजा की और गा-बजाकर बिदा हो गये—ऐसा जैसे मरने के बाद बड़ा जश्न मनाया गया हो। अभी कुछ दिनों पहले हेमांग विश्वास से मुलाकात हुई। ये लोग उस जमाने में कलकत्ता से शैडो प्ले लेकर बम्बई आये थे। उन दिनों बराबर आना-जाना हुआ करता था। हम बम्बई से कलकत्ता आते थे, कलकत्तावाले बम्बई आते थे। हेमांग बाबू को मेरी याद नहीं थी, कैसे होती। वे तब चोटी पर

थे और मैं एक मामूली आर्टिस्ट लेकिन याद दिलाने पर उन्हें बहुत सी बातें याद आयीं और हम दोनों काफी देर तक पुरानी यादों में—nostalgia में खोये रहे। असल में उस जमाने में कलकत्ता हमारा लीडर था। हमलोग कलकत्ता की चीजों को देखकर बहुत प्रभावित होते थे। लोक शैलियों की बहुत चीजें, धुने वगैरह का कलकत्तावाले खूब इस्तेमाल करते थे, वे अपनी जगह लाजवाब होती थी, हम पर उनका असर भी पड़ता था पर सब कुछ बहुत जल्दी खत्म हो गया। आर्ट के लेवल पर मुल्क के अलग-अलग हिस्सों के आर्टिस्टों को जोड़ने का और मुल्क के अलग-अलग हिस्सों में रहनेवाले लोगों को दूसरे हिस्सों की कला से वाकिफ होने का जो मौका मिलता था, वह खत्म हो गया, हम सब अपने-अपने दड़बों में लौट गये। हिंदोस्तान के आर्ट जगत में घटा इतना बड़ा वाक्या, इतना बड़ा आंदोलन खत्म हो गया, तवारीख का एक हिस्सा बनकर रह गया।”

इप्ता के साथ काम करने के दौरान हबीब तनवीर का नुक्कड़ नाटको से जो लगाव हुआ वह बराबर बना रहा। उनकी मान्यता है कि नाटक कई तरह के हो सकते हैं और होते हैं। अलग-अलग तरह के नाटकों का अपना-अपना महत्व होता है। एक जगह प्रचार नाटको की होती है वशर्ते कि सही मसले को उठाया जाय, सही लोगों के द्वारा उठाया जाय और उसे सही ढंग से पेश किया जाय। वे इस बात को बहुत अच्छा नहीं मानते कि समस्या किसी की हो और उसके लिए वेचैन कोई और हो। उनका कहना है कि यह मानना कि अपने से परे दूसरे वर्ग की समस्या मैं बेहतर समझता हूँ और समझता ही नहीं उसका समाधान भी मेरे पास है अपने आप में बड़ा भारी ढोंग और फरेब है। इस तरह के थियेटर से उन्हें नफरत है। हर इलाके की अपनी समस्या होती है और उसे उस इलाके के लोग ही बेहतर समझते हैं। हा, यदि आप उनके साथ घुलमिल जायें और ऐसा करके उनकी समस्या को समझने की कोशिश करें तो शायद स्थानीय लोगों के साथ उनकी समस्या का कोई हल भी ढूँढ सकें लेकिन बाहर रहकर आप किसी दूसरे वर्ग की अदरूनी समस्या तक नहीं पहुँच सकते। इलाकाई चीज का हल इलाकेवालों के पास ही हो सकता है। बीच-बीच में हबीब बराबर प्रचारात्मक नाटक करते रहते हैं, फैमिली प्लानिंग वगैरह पर कर चुके हैं पर उनकी कोशिश यही

रहती है कि ऐसे नाटको मे भी नाटकीय सौंदर्य हो, सब कुछ दर्शको के सामने परोस न दिया गया हो, दर्शक स्वयं उसे उपलब्ध करे। दर्शको के प्रति उनके मन मे इज्जत है और वे मानते है कि दर्शक बुद्धिमान होता है, अपनी बातें खूब समझता है और अपनी समस्याओं का समाधान भी ढूँढ सकता है।





बम्बई में इफ्टा की गतिविधियाँ ढीली पड़ी, फिल्मों ने हबीब साहब को विशेष बाधा नहीं सो वे चले आये दिल्ली। दिल्ली में एक महिला थी एलिजाबेथ गौबा। हबीब उनके साथ ही शुरू में रहे। वे एक नर्सरी स्कूल चलाती थी 'शिव निकेतन'। हबीब भी उस स्कूल के काम के साथ जुड़ गये। कभी बच्चों को कहानियाँ सुनाते, कभी उनसे नाटक करवाते। उनके लिए ड्रेस वगैरह तैयार करने में भी मिसेज गौबा की मदद करते थे। राजीव गांधी और सत्य गांधी भी उस स्कूल में आया करते थे। नेहरू जी वगैरह बच्चों का नाटक देखने आये थे, बहुत अभिभूत हो गये थे देखकर। लेकिन इस तरह केवल बच्चों के साथ जुड़कर हबीब सन्तुष्ट नहीं थे। दिल्ली में उन दिनों बेगम कुदसिया जैदी सक्रिय थी। वे एक नाटक का दल संगठित करना चाहती थी, हबीब को बुला रही थी बराबर। सन् 1954 में ये बम्बई छोड़कर दिल्ली चले आये और बेगम के साथ मिलकर स्थापना की 'हिन्दुस्तानी थियेटर' की। कुछ और लोग भी साथ थे लेकिन प्रेरणा का मूल स्रोत थी बेगम जैदी। दिल्ली में हबीब साहब के दोस्त रहते थे अथर परवेज, उन्हीं के साथ ठहरे। वे भी कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े थे और उसके आंदोलन के दौरान उन्होंने अपना उसमान नाम बदलकर अथर रख लिया था। बाद में साहित्य में वही नाम चला। वे खुद शायर थे, शायरी के शौकीन थे। वे उन दिनों यौमे नजीर मनाने की तैयारी कर रहे थे सो नजीर पर कुछ करने के लिए साथ जोड़ लिया हबीब ने। हबीब साहब तब तक मुशायरा जीतने वाले शायर बन चुके थे। इसके पहले प्रेमचंद की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' पर शतरंज के मोहरे नाटक बना चुके थे। अथर साहब के कहने पर नजीर के ऊपर पंद्रह-बीस मिनट का एक फीचर लिखने में लग गये। इस फीचर में नजीर की उन रचनाओं को लिया था जो बहुत सरल जुबान में कही गयी थी, जिन्हें घरों में, बाजारों में, सड़कों पर लोग कहा, सुना करते थे। यह फीचर जामा मिलिया में होने वाला था, वहाँ रिहर्सल होते थे खुले में। जामा मिलिया के विद्यार्थी और अध्यापक तो देखते ही थे रिहर्सल, राह-चलते लोग भी रुक जाते थे। हबीब ने उनमें से कुछ को नाटक में जोड़ लिया, एक बकरीवाले को मंच पर बुला लिया, दा-चार लहगेवालिया

भ्रमाभ्रम स्टेज पर आकर उन गीतो-शेरो के गाने में साथ हो ली। यह हुआ था दिल्ली के पास ओखला स्थित जामिया मिलिया मे सन् 1954 में। बाद में उसे दिल्ली में लाकर दिखलाया, सत्तर आदमियों का दल ओखला से दिल्ली आया पहली बार। लोगो ने देखा, सराहा। सब लोग जुटकर अलीगढ़ गये, वहाँ भी खब मशहूर हुआ। इसे बेगम जैदी ने देखा, बेगम अनीस क़िदवाई ने देखा। उन लोगो को यह बहुत ही अच्छा लगा। फिर जामिया मिलिया के साथ हबीब ने मिलकर बनाया 'ओखला थियेटर' और उसके तत्वावधान में इसे किया। लेकिन वह थियेटर पनपा नहीं तो बेगम जैदी और हबीब ने मिलकर हिन्दुस्तानी थियेटर कायम किया और इसमें पंद्रह-बीस मिनट के फीचर से बढ़ाकर लिखा गया दो घंटे का नाटक 'आगरा बाजार' खेला गया। अठ्ठारहवीं सदी के सुप्रसिद्ध लेखक नजीर अक़बराबादी की नज़्मों पर मुख्य रूप से आधारित इस नाटक में नजीर के युग का रोचक चित्रण प्राप्त होता है। बाजार में बड़ी छोटी दुकान लगाये बैठे लोग, खोमचे लगाये फेरीवाले, मदारी, जोठे पर बैठी बाईजी, एक किताब की दुकान पर जुटनेवाला शायरो का दल और खरीद-फरोख्त के लिए आनेवाले आम-आदमियों की बातचीत और रवैयों से आगरा का बड़ा सजीव चित्र खींचा गया और उस चित्र में प्राण भरा नजीर की नज़्मों ने। नाटक के लेखक-निर्देशक हबीब तनवीर थे। नाटक खूब पसंद किया गया। नयी चीज़ थी। आगरा बाजार नाटक था भी और नहीं भी। छोटे-छोटे किस्सों और घटनाओं को जोड़कर नाटक बनाया गया था। कहीं यह प्रयत्न नाटकीय बन पाया था कहीं नहीं। कहीं नजीर अक़बराबादी की कविता नाटक की गति को आगे बढ़ाती थी तो कहीं उसकी गहनता गति को अवरुद्ध करती थी विशेषकर उत्तरार्द्ध में लेकिन सब मिलाकर प्रयत्न सराहनीय था और रसज्ञ दर्शकों ने सराहा भी। बाद में लंबे अंतरालों पर सन् 1970, 1977 और 1989 में इसे हबीब ने फिर प्रस्तुत किया। 'आगरा बाजार' की इन प्रस्तुतियों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। सन् 1970 की प्रस्तुति की गयी थी हबीब को अकादमी पुरस्कार मिलने के अवसर पर। इसमें हबीब तनवीर ने पहली बार छत्तीसगढ़ी कलाकारों को अभिनेता के रूप में सम्मिलित किया और इस प्रस्तुति से ही 'नया थियेटर' एक व्यावसायिक दल के रूप में काम करने लगा। सन् 1977 की प्रस्तुति में कुछ उन कलाकारों ने अभिनय किया जो कालांतर में हिन्दी रंगमंच पर पर्याप्त प्रसिद्ध हुए यथा सविता बजाज, रणजीत कपूर, एस० बी० जुसालकर, देवेन्द्रराज अकुर, रघुवीर यादव आदि। सन् 1989 में

संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित 'नेहरू शताब्दी स्मारक समारोह' में मंचित करने के लिए इसे विशेष रूप से पुन तैयार किया गया तो फिर से देशभर में लोगो ने बड़े उत्साह से इसे देखा, सराहा ।

इस प्रसंग में इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि इण्डिया के प्रचारात्मक नाटको के दायरे में बम्बई में छ.-आठ वर्षों से बड़े हबीब तनवीर 'आगरा बाजार, में अपनी धरती के अधिक निकट आ गये थे—अपनी जुवान और हिन्दी भाषा-भाषी लोगो की बड़ी सख्या ने उन्हें खुला वातावरण प्रदान किया और निर्देशक हबीब तनवीर की भावी प्रसिद्धि और ख्याति की नींव पड़ गयी । नाट्यप्रेमी लोगो की नजर इस निर्देशक की ओर लग गयी । लेकिन एक घटना ने हबीब को भारतीय नाट्य जगत से कुछ समय के लिए दूर ही रखा ।

इसी दौरान हबीब को इंग्लैंड जाकर नाट्य प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर मिला । वे स्वयं इस बारे में बहुत उत्सुक नहीं थे लेकिन आसपास के लोगो का आग्रह था कि अवसर मिले तो एक बार इंग्लैंड जाकर प्रशिक्षण प्राप्त कर लेना चाहिए, वह हर तरह से उपयोगी होगा । दिल्ली में बेगम जैदी इन्हे उकसी रही थी बाहर जाने को । अलकाजी ने बम्बई में एक प्रशिक्षण स्कूल खोल रखा था, उनकी इच्छा थी कि हबीब वहां शिक्षार्थी के रूप में आवे । खैर, इस बीच ब्रिटिश काउंसिल ने स्कालरशिप दे दी इंग्लैंड जाकर प्रशिक्षण देने के लिए । अब सामने समस्या आयी कि जाने का खर्च कहा से आवे । उन दिनों जाकिर हुसैन साहब, जो बाद में भारत के राष्ट्रपति हुए, जामिया मिलिया में थे । उन्होंने जाने के खर्च की व्यवस्था करवा दी और सन् 1954 में हबीब लंडन गये रायल एकेडमी आफ ड्रामेटिक आर्ट्स में । दो साल का ऐक्टिंग का कोर्स था, लेकिन एक साल के बाद ही हबीब को लगा कि अब यहां सीखने को कुछ नहीं रहा । एक तो यो ही तीस-बत्तीस की उम्र हो चुकी थी, आठ-दस साल का अनुभव था दूसरे वहां भाषा और उच्चारण को लेकर जो काम करवाया जा रहा था वह इनके उपयोग में बिलकुल नहीं आनेवाला था । अब तक हबीब के सामने कुछेक बातें बहुत साफ हो चुकी थी—थियेटर इन्हे हिन्दी में करना है अंग्रेजी में नहीं अतः अंग्रेजी भाषा का ज्ञान या उसके सही उच्चारण पर काम उनके लिए व्यर्थ है । इतना ही नहीं हर भाषा की अपनी प्रकृति होती है, उसका सही उच्चारण करने की एक विशेष प्रक्रिया होती है जिसका व्यक्ति बचपन से ही अभ्यस्त

होता है, प्रयत्न के द्वारा अन्य भाषा का अन्य ढंग से उच्चारण करने का परिणाम बुरा भी हो सकता है। अंग्रेजी स्कूल में पढ़े-लिखे बच्चों के भारतीय भाषाओं में बोलने पर यह अंतर स्पष्ट होता है खासकर तब जब कि उनका अपनी भाषा में बोलने का अभ्यास बहुत न हो। हबीब को लगा कि 'बी' और 'डब्ल्यू' में उच्चरित 'व' ध्वनि के सूक्ष्म अंतर का ज्ञान उनके हिन्दी थियेटर के काम में कोई लाभ नहीं पहुंचाने वाला है, शायद उससे नुकसान ही हो अतः भला इसी में है कि इससे छुट्टी पाया जाय।

हबीब ने जब रायल एकेडेमी के प्रिंसिपल से यह कहा कि मुझे लगता है कि मैं लंडन से जो पा सकता था, ले सकता था वह मैं ले चुका, अब और कुछ लेने-पाने को नहीं तो वे आग बबूला हो गये। एक विदेशी छात्र और वह भी भारतीय, की यह मजाल कि दो साल का कोर्स बीच में यह कहकर छोड़ना चाहता है कि मुझे अब और कुछ पाने को नहीं रहा, उनकी कल्पना के बाहर था। उन्होंने साफ मना कर दिया—आप ऐसा नहीं कर सकते, आपको स्कालरशिप मिली है, आप इस तरह बीच में नहीं जा सकते। भारतीय दूतावास के माध्यम से इन्हें स्कालरशिप के रुपये मिलते थे। वे भी छोड़ने के पक्ष में नहीं थे। तब हबीब ब्रिटिश काउंसिल गये। वहां उन्होंने अपनी समस्या बतलायी—अंग्रेजी के उच्चारण का अभ्यास मेरे लिए उपयोगी नहीं, वरन् इससे नुकसान हो सकता है, जबडो को ऐसा अभ्यास हो जायेगा कि मैं फिर हिन्दी ठीक से बोल ही नहीं पाऊंगा। उन्होंने यह भी कहा कि मैं निर्देशन की ट्रेनिंग लेना चाहता हूँ, स्टेज क्राफ्ट सीखना चाहता हूँ, मुखौटे बनाना और पेपरमैशी का काम सीखना चाहता हूँ, बर्डईंगरी और लाइट का काम सीखना चाहता हूँ। अंग्रेजी भाषा का मेरे लिए कोई उपयोग नहीं। वहां एक महिला थी, उन्हें हबीब की बात समझ में आयी और उन्होंने रायल एकेडेमी में बात की। तबतक वे पुराने प्रिंसिपल चले गये थे। उनके स्थान पर एक नये कम-उम्र सज्जन आये थे जान फरनाड। उनकी समझ में भी हबीब की बात आयी। उन्होंने हबीब का काम देखा, ऐकिंग देखा और अच्छा सर्टिफिकेट देकर उन्हें छोड़ दिया। इस प्रसंग में हबीब तनवीर ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा—

“उस वक्त तक यह बात मेरे जेहन में बहुत साफ हो गयी थी कि भाषा, कलचर और अभिनय वगैरह का आपस में बड़ा गहरा रिश्ता है। हर

भाषा की एक अपनी लय (rhythm) होती है और उसका असर उस भाषा के बोलनेवाले के मूवमेंट पर पड़ता है। अलग-अलग लोगो के उठने-बैठने का तरीका अलग होता है, बात करने, खाने-पीने की आदतें और तरीके फर्क होते हैं। अभिनय करने चलो तो सब जानना जरूरी होता है। भारत और ब्रिटेन का कलचर अलग है, उनके यहाँ छुरी-काटे से खाना अच्छा मानते हैं, हमारे यहाँ हाथ से। उनके यहाँ बहुत से काम में कागज इस्तेमाल करते हैं हमारे यहाँ पानी। ये सारी बातें एक दूसरे से जुड़ी हैं। हमारे मुल्क में ही अलग-अलग हिस्सों में हॉ-ना कहने के तरीके अलग-अलग हैं। मुझे लगा कि दिल्ली में एक मलयाली ऐक्टर से हिन्दी में अभिनय करवा के भी हम कुछ-कुछ वैसी ही भूल करते हैं जैसी लंदन में मेरे साथ हो रही थी।”

खैर, बहरहाल सब राजी हो गये। एकेडेमी में निर्देशन का कोर्स था नहीं सो हबीब एक साल के लिए ब्रिस्टल ओल्ड विक थियेटर स्कूल चले गये। वहाँ से लौटकर ब्रिटिश ड्रामा लीग में तीन महीने का नाटक पढ़ाने का कोर्स कर लिया और इस तरह दो साल की स्कालरशिप का भरपूर लाभ उठाया उन्होंने—इंग्लैंड की तीन श्रेष्ठ संस्थाओं में प्रशिक्षण प्राप्त कर लिया। लेकिन नुरत भारत लौटने की इच्छा नहीं थी, कुछ और घूमना चाहते थे, करना चाहते थे, देखना चाहते थे। साधन तो थे नहीं लेकिन इच्छा थी इसलिए रास्ता निकालते रहे। कभी हिच-हाइकिंग की (रास्ते में गाड़ी में जाते लोगो को रोककर उनके साथ सफर करना), कभी अगूर तोड़े, कभी रेडियो में काम किया, कभी हॉल में लोगो को बैठाने का। इतना ही नहीं कभी नाइट क्लब में छत्तीसगढ़ी गाने गाये, कभी माइम किया और इस तरह गुजारा करते रहे और योरोप में जगह-जगह घूमते रहे। इस सारे घूमने के दौरान हबीब ‘मिट्टी की गाड़ी’ का प्रदर्शन योरोप में कहीं करने का सपना साथ लिये रहे। हर मुल्क में उन्होंने इसे करने के लिए दौड़भाग की पर किसी न किसी बात पर काम अटक गया। बेलजियम में बात करीब-करीब तै हो गयी थी पर किसी अडचन के कारण प्रोडक्शन नहीं हो पाया। जर्मनी में होते-होते काम अटक गया। एक टी० वी० प्रोडक्शन होकर रह गया। वारसा में सब तै हो गया, अनुवाद हो गया, कृस्टीन स्कुस्कुशानका नामकी महिला ने किया। सब बात तै हो गयी लेकिन जब तक हबीब नाटक की तैयारी के लिए पहुँचे तब तक कृस्टीन और निकोलाइकिस, जिसने अनुवाद में

सहायता की थी—मे भगडा हो गया । वह ब्लैकमेल करना चाहता था । प्रस्तुतकर्ता रॉस्टाक ने ऐसी स्थिति में प्रस्ताव स्थगित कर दिया मगर हा, हबीब को साल भर के लिए ब्रुक कर लिया कि एक बार जाकर बेगम जैदी के साथ नाटक का काम शुरू करके वे साल भर के लिए वारसा आ जाये और 'मिट्टी की गाडी' को प्रस्तुत करे । बात आगे के लिए टल गयी, आगे ही नहीं सदा के लिए टल गयी ।

यो घूमते-घूमते करीब डेढ़ साल निकल गये । उन दिनों ख्वाजा अहमद अब्बास मास्को में एक फिल्म बना रहे थे 'परदेसी' । उसमें नरगिस थी और एक रूसी ऐक्टर थे । उन्हें हबीब की तलाश थी । उन्होंने दूतावास से पता लगाकर इनके पास सूचना भेजी साथ ही मास्को आने के टिकट के पैसे । इस बीच हबीब ने काफी पैसे कमा लिये थे । कैमरा वगैरह खरोदा, लौटने का टिकट लिया और पहुँच गये मास्को । अपने उन डेढ़ वर्षों के अनुभव की चर्चा करते हुए हबीब साहब ने बतलाया—

“ये पीरियड था उथल-पुथल का, कलचरल प्रभाव का । मैं यह भी देख रहा था कि पश्चिम में थियेटर के अंदर एक नयी लहर शुरू हो चुकी थी । पीटर ब्रुक 'टाइट्स एंड्रोनिकस' कर चुके थे, ग्रैहम ग्रीन का 'पावर एंड ग्लोरी' भी हो चुका था । जबरदस्त प्रोडक्शन था, मास्को तक गया, तहलका मचा दिया था लेकिन हम इधर आये और पीटर ब्रुक ने उधर एक्सपेरिमेंट करना शुरू किया । अलजीरिया गये, ईरान गये । इधर-उधर भटकने लगे । असल में उस समय योरोप मशरक (पूरब) की तरफ देख रहा था इस उम्मीद से कि शायद इस तरफ से कुछ रास्ता दिखे । चीन, जापान, इंडोनेशिया ही नहीं अफ्रीका की ओर भी । शायद इस लिए कि इन मुल्कों के पास स्फिरिचुअल रिसोर्स (आध्यात्मिक सम्पन्नता) ज्यादा है, हमारा रीजनल (क्षेत्रीय) थियेटर, ट्रेडिशनल (पारम्परिक) थियेटर और देहातो का थियेटर ज्यादा प्राणवान है । तो इस जमाने से उस समय योरोप गुज़र रहा था । इन डेढ़ वर्षों की भटकन में मैंने यह समझा कि ठेठ हिन्दुस्तानी तरीके से थियेटर करने में ही हमारी आइडेंटिटी (अस्मिता) हो सकती है और कोई जगह बन सकती है, थियेटर को मीनिंगफुल (सार्थक) बनाया जा सकता है, नकल करना निहायत गलत है ।”

यदि सन् 1954 मे 'आगरा बाजार' की प्रस्तुति ने हबीब के निर्देशक होने का इंगित दिया था तो तीन साल के बाद योरोप से लौटने के समय उनकी उक्त धारणा ने उनके एक सशक्त व्यक्तित्व का । आम तौर पर पश्चिम मे कुछ समय रहने और वहाँ प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद व्यक्ति की आखो पर एक ऐसा चश्मा चढ़ जाता है कि वह सब कुछ विदेशी नजर से ही देखता है । हबीब की यह खासियत थी कि उन्होंने पश्चिमी दृष्टि और तौर-तरीको को बहुत अच्छी तरह देखा, समझा, जो उपयोगी लगा उसे ग्रहण किया लेकिन उसके गुलाम नहीं बने । अपने थियेटर के लिए क्या उपयोगी हो सकता है इस बारे मे वे बहुत स्पष्ट थे । और स्पष्ट थे इस बारे मे कि मुझे अपने देश लौटना है, अपनी भाषा मे थियेटर करना है, अपने लोगो के सहयोग से अपने लोगो के लिए थियेटर करना है ।



साठे तीन साल के विदेश प्रवास के बाद सन् 1958 में हबीब साहब स्वदेश लौटे। जाने से पहले हिन्दुस्तानी थियेटर की स्थापना हो चुकी थी और बेगम जैदी ने वचन दे रखा था कि दो साल बाद (ट्रेनिंग काल इतना ही था) जब हबीब ट्रेनिंग पूरी करके लौटेंगे तब तक वे लाख डेढ़ लाख रुपये जमा कर लेंगी और संस्कृत नाटको के अनुवाद भी करा रखेंगी। हबीब ने कुछ संस्कृत नाटक पढ़े थे और उनसे बहुत प्रभावित हुए थे। संस्कृत नाटको का अनुवाद उन्हीं के लिए होनेवाला था। बेगम जैदी बकौल हबीब तनवीर के कमाल की शख्स थी, जो कहती थी करके रहती थी। उन्होंने दो सालों में रुपये भी जमा कर लिये और कहे मुताबिक बारह देशी-विदेशी नाटको के अनुवाद भी करा लिये जिनमें शकुंतला, मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक, उत्तरराम-चरित आदि भी थे और इब्सन के नाटक भी। दो साल पूरा होते न होते उन्होंने समाचार देना शुरू किया कि सब तुम्हारे कहे मुताबिक तैयार है, आकर काम शुरू करो पर हबीब के लौटने का ठिकाना नहीं था। तब उन्होंने नोटिस दिया कि यदि तुम नहीं आते तो हम काम शुरू कर देंगे। हबीब तब भी लौटने के मूढ़ में नहीं थे। योरोप का थियेटर, वहाँ का काम उन्हें पकड़े था, उन्हें अच्छा लग रहा था वहाँ। जब हबीब पर धमकी का भी कोई असर न हुआ तो बेगम जैदी ने किसी और निर्देशक की तलाश शुरू की और सौभाग्य से उन्हें बम्बई में मिली मोनिका मिश्र। वे दिल्ली आकर काम करने को राजी हो गयी। मोनिका हिन्दुस्तानी थियेटर की पहली पेशेवर निर्देशक थी। उन्होंने आकर ऐक्टरो की परीक्षा वगैरह ली और शकुंतला की तैयारी शुरू कर दी। सब ऐक्टरो को तनख्वाह देकर रखा गया था, बेगम जैदी का उद्देश्य एक पेशेवर दल संगठित करने का था। शकुंतला नाटक मंचस्थ हुआ, यह बात सन् 1957 की है। हबीब लौटे 1958 में। सब कुछ तैयार था उनके लिए। उसी साल सन् 1958 में उन्होंने मृच्छकटिक किया और उसके बाद ही बेगम जैदी से मतभेद शुरू हो गया। बकौल हबीब के बेगम जैदी बड़ी पावरफुल परसनैलिटी (प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व) वाली महिला थी। बहुत डायनमिक थी (गतिशील, सक्रिय) लेकिन एक्सट्रीम्स वाली (या इन्धर या उधर) थी। वे जो चाहें, वही होना लाजमी था।



मृच्छकटिक के बाद वे चाहती थी कि मुद्राराक्षस हो। हबीब इसके लिए तैयार नहीं थे। वे अनुभव कर रहे थे कि ऐसे जटिल राजनीतिक नाटक को करने की उनकी पूरी तैयारी नहीं थी—न वे स्वयं तैयार थे और न ही उनके पास ऐसे कलाकार थे जो उस नाटक में फिट करते। उन्होंने तीन बार नाटक पढ़ा। उन्हें लगा कि जिस नाटक की बात समझने के लिए उसे तीन बार पढ़ना पड़ता है उसे एक बार में दर्शक तक पहुँचाना आसान न होगा। वे मुद्राराक्षस करने के लिए कम से कम पाँच साल प्रतीक्षा करना चाहते थे। बेगम जैदी इसके लिए राजी नहीं थी चूनाचे साल भर के अदर-अदर हबीब हिन्दुस्तानी थियेटर से अलग हो गये। उनका कहना है कि बेगम जैदी का व्यक्तित्व इतना पावरफुल था कि उनके साथ किसी का भी टिक पाना असंभव था, हर साल नया व्यक्ति जुड़ा और साल बीतते न बीतते अलग हो गया। मोनिका मिश्र, हबीब तनवीर, नरेन्द्र शर्मा, सथ्यु सबका एक ही हथ्थ हुआ। सन् 1960 में बेगम जैदी की मृत्यु हो गयी। सच पूछिए तो हिन्दुस्तानी थियेटर की मौत उनसे पहले, उनके जीवनकाल में ही हो चुकी थी। उनके बाद उनकी बेटी शमा जैदी और सथ्यु (जो बाद में दामाद हुए) ने चलाने की कोशिश की लेकिन वे स्वयं बम्बई जा बसे और इस तरह काफी तैयारी और जोशखरोश के साथ एक पेशेवर नाट्यदल के सूत्रपात का प्रयत्न अपनी बाल्यावस्था में ही दफन हो गया।



बेगम जैदी से अलग होकर सन् 1959 में हबीब ने नया थियेटर की स्थापना की। लेकिन उसकी बात करने से पहले हम 'मिट्टी की गाड़ी' (मृच्छकटिक) की पस्तुति के बारे में विस्तार से कुछ चर्चा करें और वह भी स्वयं हबीब के लफ्जों में—

‘सन् 1958 में मैं छ छत्तीसगढ़ी कलाकारों को ले गया था दिल्ली, पहली बार। यूरोप से लौटने के बाद रायपुर गया मा-बहनो से मिलने तो वहाँ देखा ‘नाचा’। नाचा कहते हैं वहाँ के सेक्युलर (स्थानीय लौकिक) थियेटर को। देखकर मैं मुग्ध रह गया, रात भर देखता रहा। मगनलाल, ठाकुरराम, बाबूदास, कोलुआ वगैरह बड़े-बड़े ऐक्टर स्टेज पर थे। मैं उनसे बहुत प्रभावित हुआ। उनसे बात की कि दिल्ली चलोगे? वे राजी हो गये और उनमें से छ को लेकर मैं दिल्ली पहुँच गया ‘मिट्टी की गाड़ी’ में अभिनय करवाने के लिए। उन्हें देखकर बेगम जैदी बड़ी असंतुष्ट—‘यह तुम किन्हे पकड़ लाये, काली-काली सूरते, जंगली किस्म के लोग। नाटक में हीरो-हिरोइन के खूबसूरत चेहरे होने चाहिए सो तुम न जाने किन लगड़े-लूनों को पकड़ लाये हो। जाकिर हुसैन साहब आ रहे हैं, क्या कहेंगे भला इन्हें देखकर।’ खैर, मैंने इन बातों को खास तवज्जो नहीं दिया और उन कलाकारों से ‘मिट्टी की गाड़ी’ में ऐक्टिंग करवाया। सन् 1958 का प्रोडक्शन हिन्दी में किया था, छत्तीसगढ़ी भाषा की ओर तब तक मैं नहीं गया था। लेकिन छत्तीसगढ़ के उन कलाकारों से हिन्दी में काम करवाकर मुझे लगा कि ये तो कमाल के आर्टिस्ट हैं। नाच भी लेते हैं, गा भी लेते हैं अभिनय भी कर लेते हैं बिना किसी सकोच के (अनइनहिबिटेड)—मुझे इसी टोटैलिटी की तलाश थी, टोटल थियेटर की। मुझ पर जो इप्ता का असर था, इप्ता के कारण लोक शैलियों की ओर जो झुकाव था उन सबके चलते मुझे लगा कि आगे मेरा काम इन कलाकारों के साथ ही होना चाहिए। साथ ही यह भी समझ में आया कि हम अगर लोक कलाकारों को लेंगे तो वे अपनी लोक शैली साथ लायेंगे, उनकी तमाम आवाज, कला सब वहाँ मौजूद रहेगी।”

संस्कृत के शास्त्रीय नाटको को लोकशैली में प्रस्तुत करना कहा तक उचित है इस प्रश्न के उत्तर में हबीब बौखलाकर बोले—

“दरअसल सही बात तो यह है किसी को शास्त्रीय नाट्य शैली का ज्ञान ही नहीं है कि वह शास्त्रीय नाट्य शैली में नाटक करे। मेरा खयाल है कि इसमें बहुत कुछ भ्रम शामिल है। और वह भी गलत भ्रम। संस्कृत के नाटको को पढ़ना और उसे समझना एक बात है और उसको स्टेज करना बिल्कुल अलग। डॉक्टर राघवन की हम सब इज्जत करते हैं, उनकी किताबें पढ़े बिना संस्कृत नाटक करने का कदम उठाना मुश्किल है। मैंने उनकी किताबें पढ़ी, बहुत प्रभावित हुआ लेकिन जब उनका मृच्छकटिक देखा तो लगा उन्हें प्रोडक्शन की कोई जानकारी ही नहीं है। संस्कृत के पंडित नाटक के एक-एक शब्द का बड़ी बारीकी से अर्थ करते हैं, उन अर्थों की खूबसूरती में गोते लगाते हैं लेकिन थियेटर से उनका दूर दूर तक कोई रिश्ता नहीं होता। यह हकीकत लोग मानने को तैयार नहीं कि शास्त्रीय नाट्य शैली के नाट्यधर्म के नाम पर कुछ मूर्तियों के सिवा हमारे पास और कुछ नहीं है। इन मूर्तियों से हमारे क्लासिकल ड्रास में रिवाइवल ( नव-जागरण ) आया लेकिन इसकी चर्चा भी बहुत कम की जाती है। आज जो हम देख रहे हैं हजारों साल पहले भी वही था यह एक बड़ा भ्रम है जिसे हम पाल रहे हैं। कलचर एक डायनमिक ( गतिशील ) चीज है, उसमें परिवर्तन होता रहता है। दूसरे यह भी जरूरी है कि हम संस्कृत नाटको में कही गयी बात को सहज रूप में पकड़ने की कोशिश करें। ब्रिस्टल में हमारे एक टीचर थे डेन रॉस। मैं उन्हें अपना गुरु मानता हूँ, बलराज साहनी और दीना को भी। उन्होंने मुझसे कहा कि ‘प्रोडक्शन का क्या मतलब? प्रोडक्शन का मतलब हुआ नाटक की कहानी को कह जाना। नाटक तभी फेल होते हैं जब उनकी कहानी ठीक से नहीं कही जाती। आप एक नाटक पढ़ते हैं, आपको अच्छा लगता है, आप उसे करना चाहते हैं। पहली बार पढ़ने पर जो जिस रूप में अच्छा लगता है उसे पकड़ना जरूरी है क्योंकि जो चीज आप को सहज रूप में अच्छी लगी वह औरों को भी लगेगी—उस बुनियादी असर को री-कैपचर करना, दुबारा पकड़ना ही प्रोडक्शन है। रिहर्सल के दौरान बार-बार वही चीज सुन-देखकर आपका मत बदल सकता है लेकिन उस बुनियादी असर को मत छोड़िएगा।’ बड़ी खूबसूरत बात कही थी उन्होंने। मैं अपने नाटको में

उस बुनियादी असर को जिंदा रखने और दर्शकों तक पहुंचाने की कोशिश करता हूँ। यह भी कोशिश करता हूँ कि नाटक की कहानी आसानी से सबको समझ में आ जाये।

“उन्होंने एक और बात कही थी कि ‘कथानक का एक अपना पल ( गति ) होता है, जो चीज उसमें स्कावट डालती लगे उसे हटा दो, जो उसमें सहायक लगे, उसे रख लो—वह चाहे सेट हो चाहे ड्रेस।’ मृच्छकटिक को मैंने न जाने कितनी बार पढ़ा, न जाने कितने सेट मेरे दिमाग में घूमते रहे—कम से कम बारह सेट तो जेहन में घूमे ही होंगे। मैं जब योरोप में था तब भी यह नाटक मेरे मन में था और सच पूछिए तो मैं डेढ़ साल तक इस उम्मीद में ही भटकता रहा कि इसे कहीं कर सकूँ, हर मुल्क में यही एम्बिशन ( महत्वाकांक्षा ) लिये जाता। बेलजियम में बात पक्की भी हो गयी पर किन्हीं कारणों से नहीं हो पाया। रॉस्टाक ने मुझे बुक भी कर लिया था कि साल भर बाद भारत से लौटकर मैं यह नाटक करूंगा लेकिन वह भी नहीं हो पाया। हिन्दुस्तानी थियेटर के लिए जब करने चला तो अहम सवाल था सेट का। मृच्छकटिक का सेट कैसा हो जो नाटक में स्कावट न डाले। डकन रॉस की बात जेहन में थी। कोई भी सेट पूरी तरह ठीक नहीं लग रहा था, किसी में गाड़ी तीसरे सीन में अटक जाती तो किसी में सातवें में। करते-करते मैं पहुंचा एक गोल चबूतरा पर। लगा नाटक के अंदर गोल मूवमेंट है और उसके लिए गोल चबूतरा ही सबसे सही सेट हो सकता है। बारादरी कटी, और सब कट गया, बचा केवल चबूतरा।

“इस नाटक को करते-करते कई बातें समझ में आयीं। पहली तो यह कि हमारे लोक नाट्यों का गहरा सम्बन्ध संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा से है। स्टेज का एक चक्कर लगाकर एक जगह से दूसरी जगह पहुंच जाना दोनों में चलता है। संस्कृत नाटकों में बराबर मिलता है लेटे हुए प्रवेश, सिंहासन पर बैठे हुए प्रवेश। अब ऐसा या तो ट्रेड डायर कर सकता है या फिर पर्दों की सहायता से किया जा सकता है जैसा कि कुचिपुडी या कथकली में होता है—पर्दों के पीछे छिपे पात्र प्रवेश करते हैं, पर्दा हटने पर दिखाया पड़ते हैं। ऐसे में हम आसानी से उन्हें सिंहासन पर बैठाकर या शय्या पर सुलाकर ला सकते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि संस्कृत नाटकों को करने के लिए इन लोकनाट्य शैलियों का इस्तेमाल जरूरी होता है। मैंने वही किया। मैं यह मानता हूँ कि संस्कृत के नाटकों का अनुवाद—

उसमे छिपी पोएट्री ( काव्य ) का अनुवाद कठिन है फिर वह अनुवाद चाहे अंग्रेजी मे हो या हिन्दी या छत्तीसगढ़ी मे । मूल की खूबसूरती को अनुवाद मे लाना नामुमकिन है । दुनिया मे हर कहीं शेक्सपीयर और ब्रेश्ट का अनुवाद करते समय यही कहा जाता है कि मूल की खूबसूरती अनुवाद मे नहीं आ पायी है, इसके लिए माफ किया जाय । मेरे हिन्दी या छत्तीसगढ़ी मे किये गये बाद के प्रोडक्शन मे यह कमी रहना स्वाभाविक था लेकिन चूँकि 'मिट्टी की गाड़ी' प्रहसन है, उसमे एक तरह की शक्ति है, ताकत है । पात्रो मे चोर है, लफंगे हे, जुआडी हे । गाववालो के लिए इन ः हावभाव और मनोवृत्ति को सभभना आसान होता है । एक लोक कलाकार धरती मे रची-बसी इन बातो को, इनकी ताकत को जितनी आसानी से मंच पर ला सकता था, उतना शहरी आर्टिस्ट नहीं । कविता का ज़रूर नुकसान हुआ पर बदले मे हमे मिली वाइटैलिटी ( ताकत ) । असल मे दोनो को एक साथ पकडना कठिन है । कविता को ज्यादा अहमियत दे तो प्रोडक्शन मे वाइटैलिटी कम हो जाती है और वाइटैलिटी रखना चाहे तो कविता का मोह छोडना लाजमी हो उठता है । बेहतरीन मिडिल क्लास ऐक्टर वह ताकत नहीं ला पाता, बेहतरीन लोक आर्टिस्ट कविता नहीं पैदा कर पाता । लेकिन मुझे लगा कि मै बेहतर हालत मे था—कविता थोडी खोयी पर नाटक को मै जानदार बना पाया ।”

‘मिट्टी की गाड़ी’ वह पहला नाटक था जिस पर हबीब वर्षों से चिंतन कर रहे थे, जिसके पीछे उनका एक खास मकसद था । अक्टूबर सन् 1967 में इन्कट के दसवें अंक में ‘माइ लाइफ इन कार्ट’ शीर्षक से प्रकाशित उनका लेख ‘मिट्टी की गाड़ी’ के मंचन के कई पक्षों पर प्रकाश डालता है । प्रस्तुत उद्धरण उस दृष्टि से महत्वपूर्ण है—

“मृच्छकटिक की प्रस्तुति की तैयारी करते समय मेरा ध्यान एक नये ढंग का नाटक लिखने की ओर भी था । मै सचेतन भाव से एक सपना देख रहा था कि सारे भारतवर्ष में थियेटर में काम कर रहे लोगों के द्वारा बीसवीं सदी में एक नव-जागरण लाया जाय । यद्यपि नाना कारणों से अब इस सपने पर दूसरे रंग चढ़ गये हैं लेकिन शास्त्रीय या समकालीन, देशी या विदेशी कोई भी नाटक करते समय मेरे मन में यही रहता है कि यह प्रोडक्शन हिन्दुस्तान के भावी नाट्यलेखन को एक दिशा दे, उसका वाहन बने । इस वाहन को मैंने नाम दिया नहीं नौटंकी । अपनी मिट्टी

की गाड़ी के लिए मैंने इस नाम का उपयोग किया वैसे सब को पता है कि उसमें नौटंकी वाली बात नहीं थी ।

“मैं यह भी स्वीकार करना चाहता हूँ कि शूद्रक के नाटक को करने की तैयारी के दौरान मैं एक नाट्यकार की तरह अपने को तैयार भी कर रहा था । अपने योरोप प्रवास के दौरान जब मैं करीब दो सालों तक भटकता, मेरे दिमाग में मृच्छकटिक करने की बात के सिवाय और कुछ नहीं घूमता था । ऐसे क्षण भी आये जब इस शास्त्रीय नाटक को नये आधुनिक नाटक के रूप में लिखने का विचार जोरो से मन में उठा । इस नाटक की धरती की खुशबू, हाजिर-जवाबी और समकालीनता के साथ ही इसकी कल्पनाशील ( स्लाइलाइज्ड ) लेकिन सीधी शैली ने मुझे प्रभावित किया, वह मेरा मॉडल बनी, हर नाटक लिखनेवाले को ऐसा करना चाहिए । मैं इस मॉडल को स्टेज के फ़्रेम में देखना और दिखाना चाहता था । मैं यह बहुत ईमानदारी से करना चाहता था अर्थात् मूल ढांचा बदले बिना मैं यह देखना चाहता था । नाटक को मैंने एडिट किया तो उसकी लम्बाई के कारण और किसी तकनीकी असुविधा के कारण नहीं । मैंने दसों अंकों के ढांचे को वैसा ही छोड़ दिया, वैसे इस कारण थोड़ी असुविधा हुई । पहले अंक में एक साथ ही चारुदत्त के घर का भीतरी हिस्सा और सड़क दिखलायी गयी है जहाँ शविलक वसतसेना का पीछा करता है । दूसरे अंक में रास्ता और मंदिर है जहाँ जुआड़ी नाई का पीछा करता है, साथ ही वसतसेना के घर का भीतरी हिस्सा । इसी तरह हर अंक में एकाधिक स्थल हैं । इन सारे स्थलों को दिखलाने में अडचन आई । चक्री मंच वगैरह की सहायता से दृश्य बदल भी लिया जाता तो भी समस्या थी । मसलन यदि वसतसेना के आगनों की शान-शौकत सब दिखला दी जाती तो शूद्रक द्वारा कहे या कहलाये शब्द सब बेमानी होते । जो सामने दिख रहा है उसका अलग से वर्णन क्यों ?

“इसलिए एक बात बहुत साफ समझ में आयी कि सेट तो बहुत सीधा-सादा होना चाहिए । लेकिन सादा से सादा सेट भी नाटक की गति में रुकावट डाल रहा था । मसलन आखों से ओझल हुए बिना कैसे यह दिखाया जाता कि अभी चारुदत्त अपने घर के भीतर वसतसेना से बात कर रहा है, अभी सड़क पर उसे पहुंचाने जा रहा है और फिर वसतसेना के घर पहुंचता है । अब मैंने एक किसी गोल स्ट्रक्चर (ढाँचा) की बात सोची क्योंकि नाटक में सब कुछ गोल-गोल घूमता रहता है । एक बारादरी जो

मेरे ध्यान में पहले से थी, वह भी नाटक जैसा लिखा है, उसमें स्कावट डालने लगी। तब मैंने तै किया कि लोक शैली में इस्तेमाल होनेवाले गोल चबूतरे जैसा एक चबूतरा बनाया जाय। घर के अंदर के सारे दृश्य चबूतरे पर हो और रास्ते के चबूतरे के नीचे चारों ओर। इस मंच पर पूरा नाटक बड़ी सहज और तेज गति से बढ चला। मैं इस बारे में निश्चित था कि संस्कृत नाटको में भारी भरकम सेट का इस्तेमाल नहीं होता था, वहा कविता के द्वारा पूरा वातावरण खडा किया जाता था जैसा बाद में हमें शेक्सपीयर में भी देखने को मिलता है। बीच के गोल चबूतरे के कारण कोना-कोनी मूवमेंट और संयोजन (composition) करना पडा। लेकिन मुझे लगा इससे शास्त्रीय नाटक की अपनी गति और रूप को बल ही मिला।

‘सेट सीधा-सादा था इसलिए जरूरी हो गया कि पात्रों की वेशभूषा भडकाऊ हो, चटक रंगवाली हो जिससे नाटक का लोकतत्व, उसका काल, पात्रों का विशेष चरित्र और साथ ही उसकी समकालीनता प्रगट हो। समकालीनता को अंडरलाइन (रेखांकित) करने की दृष्टि से उस काल की वेशभूषा को स्टाइलाइज्ड बनाया गया और अलग-अलग मूडों को प्रगट करनेवाले रंगों का इस्तेमाल किया गया। साथ ही कुछ मुखौटों का भी इस्तेमाल किया गया ताकि कुछ पात्र थोड़े अलग हो जायें, उनसे थोड़ी नाटकीय दूरी (alienation) भी आये। स्पेशल मेकअप ने इन सबको गहराया। आलोक औपचारिक (formal) रहा, अवास्तविक, आकर्षक (evocative) और बिना रंगवाला। इस तरह सुनहले रंग के कारण कपड़ों के रंग और उभरे। दूसरी चीजों में केवल वसतसेना के गहनों का डिब्बा इस्तेमाल में लिया गया, क्योंकि नाटक की खास-खाम घटनाएँ गहनों के डिब्बे की चोरी को लेकर हैं, उसे बाद देना मुमकिन नहीं था, बाकी के लिए मूक अभिनय किया गया।

‘डास नाटक का अंतर्ग हिस्सा था। छ महीनों के रिसर्सल में ऐक्टरों को डास की ट्रेनिंग दी गयी क्योंकि हर ऐक्टर को लय से चलना, खास मुद्रा में खड़े होना, मूक अभिनय करना था, वसतसेना को तो नाचना भी था। एक बात साफ कर दूँ, इस सारी ट्रेनिंग में नाट्यशास्त्र के मुताबिक ही काम किया गया हो सो नहीं। खास बात थी कि ऐक्टर जो कहना चाहता है वह दर्शकों तक सही-सही पहुँचे। मेरे ऐक्टरों को छूट थी कि वे अपने ढंग से यह काम करें। अपने दूसरे नाटकों में भी मैं ऐसे ही करता हूँ।

इसके लिए यह जरूरी होता है कि ऐक्टर अच्छा डांसर हो, साथ ही नये तौर-तरीके अपनाने के लिए तैयार हो। अच्छा कल्पनाशील ऐक्टर ही नये-नये ढंग से, मूक अभिनय के द्वारा नये-नये चित्र खड़े कर सकता है। इन ऐक्टरों को गाना भी था, कुछ पाठ भी करना था। उसकी ट्रेनिंग भी दी गयी। आप अनुमान लगा सकते हैं कि दूसरी तरह के थियेटर में काम करने के आदी दिल्ली शहर के मिडिल क्लाम ऐक्टरों को कितनी मेहनत करनी पड़ी होगी, कितना कुछ सीखना पड़ा होगा।

“मिट्टी की गाड़ी में गाने रखे गये। ये गाने फिल्मों के गानों की तरह अलग से नहीं डाले गये थे, शूटिंग द्वारा गद्य या पद्य में कही बातों को ही गानों में गूँथ दिया गया था। ये गाने या तो कहानी को आगे बढ़ाते थे या फिर किसी बात को। कहानी के प्रवाह को रोकने वाला एक भी गीत नहीं था। मिट्टी की गाड़ी में गाने कई ढंग से गाये गये थे। कभी एक या दो लड़के-लड़कियाँ नाटक में ऐक्टिंग कर रहे पात्रों से अलग एक ओर खड़े होकर गाते थे—ऐसा रुकके कभी वे जो कुछ हो रहा है उस पर टिप्पणी करते थे, कभी पात्रों के मन की बातों को प्रगट करते थे। सवाद के रूप में भी कुछ गायन होता था, अलग-अलग मौकों पर पात्र अपने मन के भाव गाकर प्रगट करना था। ये गाने लोक शैली में गाये गये थे, धुने छत्तीसगढ़ अचल के गोड, भील आदि आदिवासियों में प्रचलित धुने थी। ये धुने बहुत पुरानी थी, शायद उस काल की जिस काल में ‘मिट्टी की गाड़ी’ की घटना घटित हो रही थी। ये धुने आज भी कायम हैं। इन धुनों का इस्तेमाल करके मुझे लगा कि मैं मिट्टी की गाड़ी के युग को आज के युग से जोड़ रहा हूँ, नाटक का संगीत जोड़नेवाले पुल का काम कर रहा था। यह सब करने में मेरा मकसद था कि मेरे दर्शक एक साथ ही नाटक में अपने आप को पहचान भी सकें और अपने को नाटक से अलग रखकर नाटक में जो कुछ हो रहा है, उसके बारे में सोच भी सकें। मैंने अपने बाद के हर प्रोडक्शन में इस बात पर जोर दिया है।

“नाटक के गीत बहुत सरल हिन्दी में लिखे गये थे। उनमें कुछ लोक-भाषा के लफ्जों को भी डाला गया था ताकि उनका लोक रूप बना रहे। नाटक का लोक रूप बनाये रखने के लिए मैं छ आदिवासी आर्टिस्टों को अपने साथ लाया जो नाच सकते थे, गा सकते थे, अभिनय कर सकते थे, माइम कर सकते थे। इन लोगों ने सही मानों में प्रोडक्शन के लोक रूप



को कायम रखा, इतना ही नहीं मेरे सारे प्रोडक्शन को कई लेवलो पर एनरिच (समृद्ध) किया खामकर मदनलाल ने ।

“संस्कृत के और किसी नाटक के बदले मृच्छकटिक को चुनने का कारण उसकी कथा थी । समाज के निचले तबके के लोगो, चोर-उचक्को, जुआडियो और बदमाशो ने मुझे अपनी ओर खींचा । चरवाहे आर्यक की लीडरशिप और चोर शविलक के एक नाचने-गानेवाली दास स्त्री से प्रेम वगैरह ने मुझे प्रभावित किया और मैंने इन दृश्यों को काफी अहमियत दी ।

“खैर, यह सब हुआ लेकिन खास बात थी गरीब चारुदत्त और आकर्षक नर्तकी वसन्तसेना का प्रेम, उसे पूरा तबज्जो देना ही था । लेकिन इसके साथ ही नाटक का जो राजनीतिक सब-प्लोट है मेरे लिए वह भी पूरी अहमियत रखता था । मैंने इस साइड को खूब उभारा । हीरो-हीरोइन के प्रेम के साथ ही अत्याचार के खिलाफ आम लोगो का अमनोष बढ रहा था । इस दृष्टि से आदिवासियो का भाग लेना बहुत महत्वपूर्ण था । उनका ताबे जैसा श्याम रंग, भूखी नजर, रूखा व्यवहार, उनका अपना अदरुनी सेम आफ रिदम (लय की पकड, सबने मिलकर नाटक की इस साइड को खूब उभारा । आदोलन की लहर पर लहर घूम-घूमकर आती रही और अंत में वह जीत में बदल गयी । अब तक आदिवासियो द्वारा अभिनीत चरित्र और शहरी मिडिल क्लास कलाकारो द्वारा किये जानेवाले चरित्र सभी नाटक के उप कथानक विद्रोह से इस कदर जुड गये थे कि वही नाटक के मुख्य कथानक में तब्दील हो गया जो कि मेरी नजर में मृच्छकटिक का सही और कनटेमपोररी इन्टरप्रिटेशन (समकालीन व्याख्या) है ।

“कलात्मक स्तर की दृष्टि से देखे तो इस नाटक में वैसा कुछ करने और पाने की आशा नहीं थी जो आम तौर पर होनी चाहिए थी । लेकिन इस अनुभव के कारण मैं मानने लगा हूँ कि आगे खेले जाने वाले हर नाटक में चाहे वह समकालीन हो या शास्त्रीय, देशी हो या विदेशी ऐसे आर्टिस्टो को लेना ठीक रहेगा जो नाच-गान-माइम, ऐक्टिंग सबमें माहिर हो । इनके साथ भविष्य के डाइरेक्टरो की यूनिवर्सल (विश्व व्यापक) दृष्टि जब जुड़ेगी तभी सही मानो में सफल नाटक होगा, टोटल थियेटर हमें आनंद देगा ।

“जहाँ तक नाटककारो के लिए एक माडल खडा करने की बात है, मेरे खयाल से मृच्छकटिक उस दृष्टि से भी बुरा नहीं रहा । इसके बाद कई ऐसे नाटक लिखे गये जिनमें नाच, गाना, संगीत, एकालाप, एपिक थियेटर

मेथड (महाकाव्यात्मक नाट्य रीति) वगैरह का इस्तेमाल किया गया जो एक साथ दर्शक को नाटक के साथ जोड़ते भी थे और उससे अलग होकर सोचने को भी मजबूर करते थे। बात यह नही है कि मिट्टी की गाड़ी का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध इन नाटको से था या नही, बात यह अहम है कि इसके बाद ऐसे कई नाटक लिखे गये।” ( इन्वेंट अरु 10, अक्टूबर 1967 में प्रकाशित हबीब तनवीर के लेख ‘माइ लाइफ इन कार्ट’ में व्यक्त विचारों पर आधारित )।

मृच्छकटिक की प्रस्तुति के प्रसंग में चारुदत्त के चरित्र को लेकर व्यक्त किये गये हबीब तनवीर के विचार उल्लेखनीय हैं। “मृच्छकटिक में मुझे जिस चीज से असंतोष रहा वह था चारुदत्त का कैरेक्टर। मेरे लिए वह कैरेक्टर बहुत मुश्किल रहा। एक ओर उसमें कविता का अंश है साथ ही वह गरीब है, ऐसा रोनी-सूरत है कि मुझे बहुत बोर करता है। मैंने मृच्छकटिक के जितने भी प्रोडक्शन देखे, सबमें चारुदत्त कमजोर रहा, गंजत रहा सिवाय बहुरूपी, कलकत्ता के। उस प्रोडक्शन में कुमार राय ने चारुदत्त का रोल किया था, मुझे अच्छा लगा। अच्छा पार्ट किया कुमार राय ने पर मेरी नजर से वही नाटक की कमजोरी बन गयी। कुमार राय ही नाटक के डाइरेक्टर थे। एक अच्छे ऐक्टर, मैनेजर और डाइरेक्टर के चारुदत्त का रोल करने के कारण वह डामिनेटिंग कैरेक्टर बन गया पर दरअसल मृच्छकटिक का चारुदत्त डामिनेटिंग कैरेक्टर नहीं है, वह है वसंतसेना का। साथ ही छोटे-छोटे कैरेक्टर शंकर, सस्थानक वगैरह काफी महत्वपूर्ण हैं लेकिन इन सबके बदले मुख्य रूप से उभरा चारुदत्त। असल में चारुदत्त के चरित्र की कोमलता, कवित्व, प्रेम, दैन्य तथा शक्ति को एक साथ रूपायित करना कठिन काम है। मेरी प्रस्तुति में कवित्व नहीं उभर पाया था। दुबारा जब छत्तीसगढ़ी कलाकारों से करवाया तो मैंने उर्दू के बेहतरीन शायर नियाज हैदर से गीत लिखवाये, उन्हें उन हिस्सों में जोड़ा जहाँ-जहाँ शूद्रक ने कविता का अंश रखा था। ऐक्टरों की कमजोरी को मैंने यो ठकने की कोशिश की। धुने छत्तीसगढ़ी भी थी, राजस्थान और यू० पी० की भी। चूँकि नियाज हैदर बहुत बड़े शायर हैं उन्होंने बड़े सरल पर प्रभावपूर्ण ढंग से बड़ी खूबसूरती से गीत लिखे मसलन—जूड़ा सवारे किरणों का, चढ़ा की गगरी। साँझ की बेला, जूड़ा किरणों का—बढ़ी सुंदर उपमा थी।”

मिट्टी की गाड़ी के सम्बन्ध में हबीब तनवीर का यह विस्तृत विवेचन एक ओर इस नाटक की प्रस्तुति के विभिन्न पक्षों पर विस्तार से विचार करता है तो दूसरी ओर नाट्य लेखन और नाट्य प्रस्तुति के सम्बन्ध में उनकी मान्यता को भी स्पष्ट करता है जो बाद में उनकी सभी प्रस्तुतियों में कमोवेश देखने को मिली। शहरी निर्देशक द्वारा संस्कृत के शास्त्रीय नाटक का लोक कलाकारों के सहयोग से मंचन का संभवतः यह पहला प्रयास था। वैसे यह सही है कि उनकी यह दृष्टि, शहरी-ग्रामीण कलाकारों का ऐसा संयोजन, छत्तीसगढ़ी भाषा का प्रयोग, लोक शैली का समन्वय हर नाटक की कथा और परिवेश के साथ फिट नहीं बैठता जैसे लाला शोहरत राय लेकिन चरनदाम चोर, बहादुर कलारिन, हिरमा की अमर कहानी, सोनसागर जैसे नाटकों को इस समन्वय ने अद्भुत जीवन्तता और शक्ति प्रदान की है। हबीब की पहचान ही इन प्रस्तुतियों से बनती है। आधुनिक नाटकों में लोकशैली के समन्वय की जो चेष्टा पिछले पंद्रह-बीस वर्षों से जोरों में की जा रही है, उसका सूत्रपात हबीब के द्वारा छठे दशक में कर दिया गया था। सच पूछा जाय तो वह प्रयत्न इधर के प्रयत्नों से अधिक सार्थक था क्योंकि हबीब ने शहरी कलाकारों द्वारा लोकगीत-लोकनृत्य नहीं करवाये, उन्होंने लिया लोक-कलाकारों को। उनकी शक्ति, उनका रूपापन, उनकी जीवन्तता सहज स्वाभाविक थी, लोक-कलाकार बनने के लिए ओढ़ी गयी नहीं। यही कारण है कि हबीब के चरनदाम आदि जैसे नाटक पिछले पंद्रह-सत्रह वर्षों से लगातार खेले जा रहे हैं और जब भी जहाँ भी खेले जाते हैं अपने सहज सौन्दर्य और प्राणवत्ता के कारण दर्शकों को मुग्ध करते हैं।

इस प्रसंग में सुप्रसिद्ध पत्रिका कल्पना के अप्रैल सन् 1958 के अंक में प्रकाशित डाक्टर सुरेश अवस्थी की समीक्षा विशेष महत्वपूर्ण है। समीक्षक ने प्रस्तुति की शक्ति और सीमा का उल्लेख किया है साथ ही उभरते निर्देशक हबीब तनवीर की दृष्टि को समझने का प्रयत्न करने के साथ ही उस पर अपना मतव्य भी प्रगट किया है।

‘स्थानीय हिन्दुस्तानी थिएटर ने शूद्रक के संस्कृत नाटक ‘मृच्छकटिक’ का हिन्दी रूपान्तर ‘मिट्टी की गाड़ी’ नाम से प्रस्तुत किया। निर्देशक हबीब तनवीर ने इस नाट्य प्रयोग को नई नौटंकी की भूजा दी है। निर्देशक ने वक्तव्य में कहा है कि इस नाट्य प्रयोग में नृत्य-नाटक (बैले) और गेय नाटक (ऑपेरा) के तत्व भी सम्मिलित किये गये हैं। उनका कथन है कि इस

प्राचीन नाटक का नवरूपण करने और उसे समसामयिक कलाभंगिमा देने के लिए प्रदर्शन में अनेक दूसरे देशी और विदेशी नाट्य-तत्वों को भी समाहित किया गया है। निर्देशक की धारणा है कि प्राचीन संस्कृत नाटकों को आधुनिक कलात्मक सगति देने के लिए इस प्रकार के विभिन्न तत्वों का समावेश और नये नये प्रयोग नितान्त आवश्यक है।

“इस नाट्य प्रदर्शन का मूल्यांकन करते समय निर्देशक का यह वक्तव्य और प्राचीन संस्कृत नाटकों के नये प्रयोग के सम्बन्ध में उनकी मान्यताएं ध्यान में रखना जरूरी होगा। ऐसा इसलिए और भी जरूरी है कि यह प्रदर्शन निश्चित ही रंगमंच की आधुनिक रीतियों और व्यवहारों से सर्वथा विलग एक बड़ा ही साहित्यिक प्रयोग है और इसमें रंगमंच के सभी कालपक्षों दृश्य-रचना, पात्रों की वेशभूषा और दूसरी अनेक परम्परागत रंगमंच रूढ़ियों में सर्वथा नवीन सामग्री और नए नियमों का समावेश किया जाता है। और यही कारण है कि इस प्रदर्शन का विवेचन एक प्रदर्शन के गुण-दोषों, सफलताओं और असफलताओं का ही विवेचन नहीं है, बल्कि इससे कई प्रकार के जो मूल प्रश्न उठते हैं उन पर पूरा विचार अपेक्षित है।

“सब से पहले यदि हम ‘मिट्टी की गाड़ी’ के साहित्य अंश—संवाद, गद्य और पद्य दोनों ही और गानों को ले तो ऐसा लगता है कि इस नाटक को हम शूद्रक के मृच्छकटिक का न तो अनुवाद ही कह सकते हैं और न रूपान्तर ही, क्योंकि इन दोनों साहित्य प्रक्रियाओं के कुछ निश्चित नियम और स्थापनाएं हैं। इस नाटक में तो मौलिक नाटक के साहित्य अंश के साथ पूरी तरह से स्वेच्छा-चारिता बरती गयी है और संवादों का सम्पादन करने में पूरी छूट ली गई है। इस प्रकार का नाट्य रूपान्तर, कथावस्तु का नवरूपण वस्तुव्याख्या भी नहीं कहा जा सकता। कोई भी साहित्यिक कृति, विशेष रूप से नाटक, रूपान्तर-कार अथवा प्रयोगवादी निर्देशक को ऐसी स्वतन्त्रता नहीं देती कि उसके कथानक के अभिप्रायों और पात्रों की चारित्रिक भंगिमाओं को आमूल बदल दिया जाए।

“मिट्टी की गाड़ी में प्रयोगशीलता की दूसरी दिशा उसके रंगमंचीय उपस्थापना से सम्बन्ध रखती है और इस सम्बन्ध में भी कई प्रकार के गम्भीर सन्देह मन में उठते हैं। प्राचीन और शास्त्रीय नाटकों की समसामयिक कलाप्रवृत्तियों और रुचियों के अनुरूप प्रस्तुत करने की समस्याएं अनेक हैं और उनके कई पक्ष हैं। जब तक हम पूरी तरह से नाटक के मौलिक स्वरूप, उसके कलात्मक आशयों और संकेतों को नहीं समझ लेते और साथ ही हमारी

आधुनिक जीवन और साहित्यिक मूल्यों की अवधारणा भी स्पष्ट नहीं है, तब तक हम उन दोनों में किसी तरह का सामंजस्यपूर्ण कलात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते। 'मिट्टी की गाड़ी' के प्रदर्शन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मृच्छकटिक नाटक के पूरे सामाजिक और सांस्कृतिक अभिप्रायो को ठीक से नहीं समझा गया और उसे जिस रूप और जिन रीतियों से आधुनिकता का जामा पहनाया गया है, उससे वह हास्यजनक हो गया है। रगमच शायद दूसरे ऐसे साहित्य कला माध्यमों की अपेक्षा अधिक पुरातनवादी होता है और अपनी प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों को न तो एक साथ, एकदम छोड़ सकता है और न अनेक नये तत्वों और रूढ़ियों को एक साथ स्वीकार ही कर सकता है। यद्यपि इस पुरातनवादिता के साथ रगमच शायद सभी दूसरे कला माध्यमों की अपेक्षा सबसे अधिक प्रयोगगामी और सवेदनशील होता है और सभी प्रकार के नये प्रयोगों और व्याख्याओं को बड़ी उदारता के साथ ग्रहण करता है किन्तु वह कभी भी एक साथ बहुत बड़े परिवर्तन के लिए तैयार नहीं रहता। वह तो धीरे-धीरे आंशिकरूप से परिवर्तित होता है और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन तभी सम्भव और सार्थक हो पाता है जब उसकी वर्तमान रूप और स्थिति के साथ पूरी-पूरी सगति हो। रगमच सभी ऐसे प्रयत्नों को नकार देता है जिनका उद्देश्य उसके पूरे ऐतिहासिक तथ्य को ठुकरा देना होता है और जिनमें बिलकुल ही नये विजातीय रूपाकार को आरोपित करने का प्रयत्न किया जाता है।

“मिट्टी की गाड़ी के सभी प्रदर्शन पक्षों को यदि अलग-अलग ले तो हम देखते हैं कि नाट्यधर्मी और लोकधर्मी—दोनों ही प्रकार की परम्पराओं की बहुत बड़ी अवहेलना की गयी है। पात्र तरह-तरह की विचित्र वेणुभूषा में प्रस्तुत किये गये हैं। घाघरे, लहंगे, धोतिया, पायजामे, तहमद, बड़ी, कुर्ते, अजीब तरह की टोपिया और पगडिया और चिथड़ी और सरकडों के मुखौटे पहनकर पात्र आते हैं, और मूत्रघार तो ओवरकोट पहने हुए, पाइप पीता हुआ नाट्य प्रदर्शन की सूचना देता है। वेणुभूषा के चुनाव और उसके प्रयोग में किसी तरह का कोई विवेक और व्यवस्था नहीं है। इसी प्रकार रगमच पर पात्रों की नृत्यवत् गतिया, अभिनय, समूहन, अनेक दृश्य-उपकरणों का प्रयोग—यह सभी कुछ तरह-तरह की मिली-जुली शैलियों में प्रस्तुत किया जाता है। कभी तो उसमें प्रहसन जैसी अत्युक्तियाँ और कलावाजियाँ दिखाई जाती हैं, और कभी बड़ी ही शैलीगत रूढ़ गतियाँ और नितान्त स्वाभाविक मुद्राएँ और अंग-संचालन प्रस्तुत किये जाते हैं। अनेक शैलियों का मिला-जुला यह

रूप निर्देशन के सभी पक्षों में व्यक्त हुआ है जिससे पूरे प्रदर्शन में किसी प्रकार की रूप और शैलीगत एकता नहीं आ सकी है। प्रदर्शन की यह रूप और शैलीहीनता और विविधता दर्शक के रसानुभव में ही बाधक बन जाती है।

“नाटक का संगीत अश—गायन और वादन दोनों ही—लोकगीतों की शैली में ढाले गये हैं। कुछ गानों को छोड़कर अव्यवस्थित और रूपहीन हैं, न तो वह ऊँचे स्वर का संगीत ही है और न उसे नाट्यशक्ति में सम्पन्न किया जा सका है। पद्य-सवाद पाठ्य भी प्रीतिकर नहीं है।

“इस प्रदर्शन के प्रयोग पक्ष का चाहे जो कुछ भी उद्देश्य हो—चाहे केवल प्रदर्शन की प्रचलित रीतियों को छोड़कर निर्देशक कुछ नया प्रस्तुत करना चाहता हो, और चाहे उसका उद्देश्य इससे कुछ अधिक गम्भीर और मौलिक हो, किन्तु यदि निर्देशक इसे “नयी नौटकी” कहकर सिद्ध करना चाहता है कि उसने लोकनाट्य रूपों का पुनर्गठन करने और उनको शहरी समाज के लिए आकर्षक और मनोरंजक बनाने के लिए हमको सही रास्ता दिखा दिया है, तो मैं समझता हूँ कि यह दावा गलत और भ्रामक होगा। यह प्रदर्शन किसी प्रकार में भी नौटकी के रंगमंचीय तत्वों और गुणों को उजागर नहीं करता है। सच बात तो यह है कि नौटकी नाट्य-रूप के जो गुण और उसकी विशेषताएँ हैं उनको भी इस प्रदर्शन में उपयोगी और प्रभावशाली ढंग से अपनाया नहीं गया। बल्कि, उनको कुछ हद तक भ्रष्ट और कलाहीन बना दिया गया है। इसमें सदेह नहीं कि हमको अपने प्रदर्शनों में लोक-नाट्य रूपों के बहुत कुछ तत्व अपनाने हैं और अपना नया शहरी नाटक विविध रूपों में ढालना और सवारना है लेकिन, यह तभी सम्भव है जब हम लोकनाट्य-रूपों की कला-परम्पराओं और प्रवृत्तियों को अच्छी तरह समझ लें और गहरी रचनात्मक दृष्टि के साथ सारी सामग्री का संस्करण करें।”

सन् 1958 में मूलतः प्रस्तुत ‘मिट्टी की गाड़ी’ का प्रदर्शन अभी तक हो रहा है। अवश्य ही सन् 1977 में हबीब ने इसका पुनर्संस्कार किया। नाटक का अनुवाद पूरी तरह छत्तीसगढ़ी भाषा में कर दिया, उसमें प्रचुर गानों का संयोजन किया और इस प्रकार संस्कृत का एक गौरवग्रन्थ पूरी तरह लोक स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया। जैसा कि कहा जा चुका है स्वयं हबीब के अनुसार ‘मिट्टी की गाड़ी’ आम जनता का नाटक है, उसके

पात्रों में समाज के सामान्य और निम्न वर्ग के चोर, जुआरी, शराबी भी शामिल हैं, नाटक का कथ्य और शिल्प दोनों लोक जीवन के अधिक निकट हैं। हबीब की यह मान्यता बहुत दूर तक सही है पर शायद हम इस तथ्य को झट में स्वीकार नहीं कर पाते, संस्कृत नाटक शब्द कान में पड़ते ही हमारे सामने समाज का अभिजात वर्ग उभरकर आता है, हमारी अपेक्षा बनती है कि सामान्य व्यक्ति भी एकदम उजड़ू, गवार और रूख न हो। हमारे ऐसा मानने का कोई औचित्य नहीं तथापि ऐसी ही स्थिति बनती है। एक और बात है, इस तथ्य को हम मान भी ले तो उन पात्रों की ही ग्राम्यता सगत लगती है जो वास्तव में ग्रामीण या संस्कारहीन हैं। राजा, सामंत या नगरवधुओं में हम एक प्रकार के आभिजात्य और संस्कार की अपेक्षा करते हैं। इस दृष्टि से 'मिट्टी की गाड़ी' और बाद में 'लाला शोहरत राय' में लोक कलाकारों की अनेक भूमिकाएं अनुकूल नहीं हुईं और वे दर्शकों के मन पर वह स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ पाये जो चरनदास, बहादुर कलारिन या हिरमा में छोड़ते हैं। इस दृष्टि से मिट्टी की गाड़ी की आलोचना भी हुई है। सन् 1987 में कलकत्ता में चेशायर होम इंडिया के सहायतार्थ नया थियेटर के तीन नाटक प्रस्तुत किये गये। उन नाटकों के प्रदर्शन के बाद भारतकथा के 9 अप्रैल 1987 के अंक में समीक्षक शिवानी भट्टाचार्य द्वारा व्यक्त विचार प्रस्तुत हैं—

“मृच्छकटिक शूद्रक की रचना है। संस्कृत भाषा में लिखित इस नाटक की रचना की ठीक तिथि का हमें ज्ञान नहीं लेकिन अब तक प्रायः दस विदेशी भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। यह तथ्य ही नाटक की लोकप्रियता का प्रमाण है। अपने कुछ आंतरिक नाटकीय वैशिष्ट्य के कारण यह नाटक अब तक जीवित रह सका है। साथ ही मृच्छकटिक में तत्कालीन समाज के कुछ ऐसे चित्र प्रस्तुत किये गये हैं जो आज भी हमें दिखाई पड़ते हैं। अर्थात् इसका सम्बन्ध सारी दुनिया के लोगों से है।

“इस नाटक का अनुवाद हबीब तनवीर ने 'मिट्टी की गाड़ी' नाम से किया है और प्रस्तुत किया है अपनी स्टाइल में लेकिन ऐसा करने में वे मूल नाटक से हटे नहीं हैं केवल दो क्षेत्रों को छोड़कर। पहला गाना और दूसरा मचसज्जा। संस्कृत नाटक में जिस तरह की मचसज्जा का उल्लेख प्राप्त होता है उसके साथ इस नाटक की मचसज्जा का कोई सम्बन्ध नहीं था। मंच के बीचोबीच एक गोल प्लैटफॉर्म रखकर मंच को दो

तलों में बाट दिया गया था। और इस ऊपरी तल के एकदम पीछे दो रंगीन छोट के खम्भे खड़े करके अलग-अलग जगहों का बोध कराया जा रहा था। इसके फलस्वरूप मंचसज्जा लोकशैली के निकट लग रही थी।

“मिट्टी की गाड़ी की इस प्रस्तुति-शैली के कारण नाटक के कुछ विशेष अंश अच्छी तरह नहीं उभर पाये जैसे वसन्तसेना और आर्यक वाले अंश जिन्हें नाटकीय दृष्टि से सबसे अधिक रोचक होना चाहिए था। या फिर कहीं-कहीं शारीरिक अभिनय केवल ‘विवरण’ मात्र होकर रह गया, उससे अधिक कुछ नहीं। जैसे वसन्तसेना के घर का परिचय देने के समय, चारुदत्त के घर में शर्विलक के सेध काटने के दृश्य में, निर्देशक ने जो शैली अपनायी है वह इस कथन की पुष्टि करती है।

“नगर के श्रेष्ठ और सत् बणिक चारुदत्त तथा नगर की श्रेष्ठ गणिका-पुत्री वसन्तसेना की प्रणयकथा नाटक का प्रतिपाद्य है। नायिका प्रधान इस नाटक में फिदावाई ने सचमुच नायिका की भूमिका में बहुत सुन्दर अभिनय किया लेकिन चारुदत्त की भूमिका में उदयराम फीके रहे। उनकी भावाभिव्यक्ति या वाचनभंगी किसी के द्वारा भी चारुदत्त का सुख, यत्रणा, हताशा रूपायित नहीं हो पाया।

“तथापि खलनायक शंकर की भूमिका में स्वयं तनवीर ने अत्यंत सुन्दर अभिनय किया। लेकिन विदूषक मैत्रेय की भूमिका के लिए रामचरण का चुनाव सगत नहीं था। न तो उनका रूपाकार चरित्र के अनुकूल था न ही संवाद का वाचन/सम्प्रेषण। फलस्वरूप मैत्रेय चारुदत्त के विदूषक भर रहे, दर्शकों के लिए वे मशीनके पुतले ही रहे। वसन्तसेना की दासी मदनिका की उम्र और कम होने से अच्छा रहता।

“गत 31 मार्च को उत्तर कलकत्ता के गिरीश मंच पर हबीब के नया थियेटर ने चेशायर रोमस इंडिया के सहायतार्थ ‘मिट्टी की गाड़ी’ का मंचन किया। 28 मार्च से 1 अप्रैल के बीच उन्होंने जिन तीन नाटकों का मंचन किया, उनमें यह अन्यतम था।

“मृच्छकटिक एक क्लासिक नाटक है। यह बहुत ही सही है कि इस क्लासिक नाटक की उपयोगिता है। तथापि इस नाटक में स्वगतोक्तियों का जैसा व्यवहार किया गया है या प्रस्तुति को जितनी लंबी किया गया है वह आज के युग के आधुनिक दर्शक के धैर्य को विचलित करती है। यह दोष किसका है—नाट्यकार का या निर्देशक का?”



संस्कृत और लोकनाटको के परस्पर सम्बन्ध के बारे में हबीब तनवीर की दृष्टि बहुत साफ है। उनके अनुसार ये दोनों ही पारम्परिक थियेटर हैं और लोक नाट्य ही कालांतर में एक निश्चित रूप (crystalized) लेकर शास्त्रीय नाटक बन जाता है, हर देश में यही होता आया है। पूजा-होम-अनुष्ठान आदि के समय किये जानेवाले कृत्यों में नाटकीयता के बीज मिलते हैं। ये ही पहले लोकनाट्य के रूप में विकसित होते हैं और फिर समाज के पढ़े-लिखे लोगों के हाथों में पड़कर नियमों में बंधते हैं, लोक से शास्त्रीय की ओर उत्तरण करते हैं। हम अपने देश में देखें तो संस्कृत नाट्यलेखन और मंचन की परम्परा समाप्त हुए करीब एक हजार वर्ष हो गये लेकिन लोकनाट्य सदा बना रहा भले ही हमें उसके बारे में जानकारी हो या न हो। हबीब साहब इस बारे में बहुत स्पष्ट हैं कि हमारी शास्त्रीय नाट्यधर्मी परम्परा और नाट्य-रूढ़ियों तथा लोकनाट्य की लोकधर्मिता और लोक नाट्यरूढ़ियों में गहरी समानता है। संस्कृत नाटको में जिस तरह सेट का इस्तेमाल नहीं किया जाता और वर्णनों के द्वारा स्थान के सौंदर्य और विशेषता का बोध कराया जाता है उसी प्रकार लोक नाटको में भी सीन-मीनरी इस्तेमाल करने की परम्परा नहीं है। दोनों में ही पात्र मंच पर एक-दो चक्कर लगाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाते हैं और नये स्थान के वर्णन के द्वारा वहाँ का पूरा चित्र दर्शकों की कल्पना के सामने सजीव बना देते हैं। दर्शकों की कल्पना को सजग रखने का पूरा काम दोनों तरह के नाटक करते हैं। दर्शकों से सीधे बातचीत की परम्परा भी दोनों नाट्यशैलियों में है। इसी तरह नाच-गान और अभिनय का समन्वय—टोटल थियेटर की आधुनिक अवधारणा का रूप—हमें इन दोनों प्रकार के नाटको में प्राप्त होता है। हबीब साहब के अनुसार इस तथ्य को समझकर और स्वीकार करके ही हम संस्कृत नाटको के मंचन की समस्या का समाधान कर पायेंगे साथ ही अपनी जड़ों तक पहुँच सकेंगे। वे उन लोगों से पर्याप्त असन्तुष्ट हैं जो बात-बात में नाट्यशास्त्र की दुहाई देते हैं लेकिन नाट्य शास्त्र में कही बात को व्यावहारिक दृष्टि से समझने का प्रयत्न नहीं करते। उनकी दृढ़ धारणा है कि शास्त्रीय और लोक नाट्यरूढ़ियों का अध्ययन और समन्वय आधुनिक नाट्यकारों और निर्देशकों को बहुत सी नयी बातों और नये तौर-तरीकों से परिचित करा सकता है और उसके फलस्वरूप वे कुछ नये का सृजन कर सकेंगे—ऐसा नया जो नया भी होगा साथ ही भारतीय भी होगा। (जून 1970 के इन्वेंट में प्रकाशित साक्षात्कार पर आधारित)।

इमी प्रसंग में एक और बात । आम धारणा है कि संस्कृत नाटक पढ़े-लिखे सुरुचि सम्पन्न नागरो के लिए होता था और लोकनाट्य बिना पढ़े-लिखे, अनगढ़ ग्रामीणों के लिए । हबीब इस धारणा के विरोधी है । उनकी मान्यता है कि ऐसा विभाजन अनुचित और अन्यायपूर्ण है । लोकनाट्य प्रस्तुत करनेवाले अनपढ़ भले ही हों, वे बड़ी-बड़ी शास्त्रीय बातें न कर पाते हों लेकिन वे असंस्कृत नहीं होते । उनमें रसज्ञता, कल्पना कला-कौशल आदि किसी भी शास्त्रीय नाट्य-साधक से कम नहीं होता । हाँ उसका स्वरूप थोड़ा भिन्न होता है लेकिन कला या रस से शून्य नहीं । उनका यह भी कहना है कि हमारी यह धारणा भ्रान्त है कि संस्कृत नाटकों की रचना और मंचन केवल पढ़े-लिखे तथाकथित सुसंस्कृत नागरो के लिए ही होता था क्योंकि यदि ऐसा होता तो संस्कृत नाटकों में प्राकृत का उपयोग न किया गया होता । वास्तविकता तो यह है कि अनेक संस्कृत नाटकों में संस्कृत से अधिक प्राकृत का उपयोग किया गया है । उच्च वर्गों और पंडितों की भाषा संस्कृत है, काव्यांश भी संस्कृत में है तथापि शेष सब कुछ प्राकृत में । नाट्यकारों के समक्ष अवश्य ही पूरा समाज रहता रहा होगा तभी वे राजा-महाराजाओं के अतिरिक्त अन्य साधारण व्यक्तियों को भी अपने नाटकों में पात्र बनाते थे और उनके सुख-दुख, प्रणय-वियोग आदि का चित्रण करते थे । लोक कलाकार आज भी अपनी परम्परा के अधिक निकट है । आज आवश्यकता इस बात की है कि इन कलाकारों के साथ हम काम करें, इनकी शक्ति और प्राणवत्ता को ग्रहण करें । शहरी और ग्रामीण, संस्कृत और असंस्कृत, नाट्यधर्मी और लोकधर्मी आदि भेदों को भूलकर इन सबमें व्याप्त उन समान तत्वों को समझने का प्रयत्न करें जो इनकी शक्ति है, प्राण है और जिन्हें समझ-स्वीकार कर हम अधिक समृद्ध बन सकते हैं । हबीब तो यहाँ तक कहते हैं कि—

‘हम लोग जब गरीबी की बात करते हैं, विकास की बात करते हैं तो हम यह मानकर चलते हैं कि सबसे गरीब लोग गाँवों में रहते हैं लेकिन हम इस तथ्य की ओर कभी ध्यान नहीं देते कि सबसे धनी लोग भी गाँवों में रहते हैं—आर्थिक दृष्टि से सबसे निर्धन लेकिन साम्प्रतिक दृष्टि से सबसे धनवान—यही तो हमारा विरोधाभास है । मैं यह नहीं कहता कि हमने शहरी संस्कृति के फलस्वरूप जो कुछ पाया है उसे भूल जाना चाहिए लेकिन यह जरूर कहना चाहूँ कि यह शहरी कल्चर अधूरा है, बाहर से आया है, पश्चिम से आया है । यह जरूरी है कि हम पूर्वी संस्कृति के तौर-

तरीको को अपनाये, तभी हम कुछ नया, मौलिक दे पायेग। शहरो कत्तर मे आज वैकुअम है, शून्य है।” (वही)

इस प्रश्न के उत्तर मे कि छत्तीसगढ अचल के कलाकारो का दिल्ली लाकर (या शहर मे लाकर) उनसे अभिनय करवाने के पीछे आपका उद्देश्य क्या है, हबीब ने कहा—

“मै चाहता हूँ कि दिल्ली की सुरुचि सम्पन्न (साँफिस्टिस्टेट) दर्शक-मडली गाँव के सुरुचिहीन कलाकारो के अनगढपन का अनुभव कर सके, उनकी सहज शक्ति और जीवन्तता का स्पर्श पा सके। मैने यह अनुभव किया है कि बहुत सी स्थितियो को—विशेषकर हास्य नाटक मे—एक लोक कलाकार अपने अनगढ ढग से जिस खूबसूरती और गहराई से पेश करता है, शहरी कलाकार नही कर पाते। नाटक देखने और उसके बारे मे बात करने को फैशन मानकर जो लोग नाटक देखने और उसके बारे मे बात करते है उन शहरी फैशनेबुल लोगो के सामने मै ग्रामीण कलाकारो और उनकी जीवन्त कला को रखना चाहता हूँ जो पढे-लिखे न होते हुए भी कल्पनाशील है, कुशल है, प्रभावी है।

“एक बात साफ कर दू। मै यह नही मानता कि गाँवो मे जो कुछ होता है, जैसे होता है सब ग्रहण करने के लायक हे। मै करता भी नही। मै उनकी उन्ही बातो को लेने के पक्ष मे हूँ जो हमारे लिए काम की हो, हमारे थियेटर को समृद्ध कर सके। हमलोग आज अपनी क्लासिकल परम्परा को जानने-समझने की कोशिश कर रहे है। इसके लिए यह जरूरी नही कि हम जो है उसे तोडे फोडे और फिर कुछ नया खडा करे। गाँवो मे आज भी बहुत कुछ पारम्परिक रूप मे चला आ रहा है। हम उसे देखे, समझे और उसे स्वीकार करे। गावो का सामूहिक कला प्रदर्शन और सामूहिक जीवन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।” (वही)

हबीब तनवीर के अनुसार गाँव और शहर की सस्कृतियो, चाल-चलन, रिवाज आदि के बीच आदान-प्रदान आवश्यक है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लगे अरसे तक कला का विकास शङ्क-केद्रित रहा, सरकार की ओर से कला और कलाकारो के विकास के लिए जो कुछ किया गया उसका केन्द्र शहर रहा। गावो मे रहनेवाले लोगो, लोक कलाकारो, लोकनाटको आदि को कला

और सस्कृति के क्षेत्र में आगे बढ़ाने और उन्हें प्रश्रय देने की दृष्टि से किये गये प्रयत्न नगण्य हैं। यह दूरी कम होना आवश्यक है। पश्चिमी सभ्यता और दृष्टि से प्रभावित शहरी रंगमंच का अपना महत्व है, उसे अस्वीकार करने की आवश्यकता नहीं लेकिन हाँ, हमें वही रुक नहीं जाना चाहिए, उसके अलावा जो कुछ है, उसे भी जानने-समझने का प्रयत्न करना चाहिए, साथ ही विकसित होने का अवसर प्रदान करना चाहिए क्योंकि हमारा मूल उन्हीं में स्थित है।

अभीक घोष के अनुसार “हबीब तनवीर मतुलित दृष्टिवाले व्यक्ति हैं। उनकी मान्यता है कि शहरो में जिस तरह के नाटक लिखे और खेले जा रहे हैं, उनका अपना महत्व और स्थान है। पश्चिमी सभ्यता और जीवनदृष्टि से प्रभावित ये नाटक रहेंगे ही क्योंकि हम सामान्य रूप में पश्चिमी सभ्यता और दृष्टि से प्रभावित हुए हैं। सन्नान्त काल (ट्रानजिशनल पीरियड) में ऐसा होना स्वाभाविक है। इस काल में हुए मोहन राकेश और बादल सरकार जैसे नाट्यकारों ने हमें जो नाटक दिये हैं उनमें पश्चिम और पूर्व की दृष्टियों का सम्मिलन प्राप्त होता है क्योंकि एक ओर वे पढ़े-लिखे पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित दृष्टिवाले व्यक्ति हैं साथ ही अपनी जड़ों से गहरे जुड़े भारतीय नाट्यकार। आज एक साथ कई तरह के नाटक दिखलाई पड़ रहे हैं—कुछ लोकप्रिय नाटक जो अश्लील और सस्ते हैं और इनकी प्रतिक्रिया स्वरूप हो रहे कुछ नकचढ़े (high brow) नाटक जो बहुत सी बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। हमें इन दोनों से बचना चाहिए। जैसे ‘अकेलेपन’ (isolation) की बात लें। आज नाटको में बहुत बार इसकी चर्चा की जा रही है लेकिन हमारी भारतीय परिस्थितियों से यह बहुत दूर है। इन स्थितियों को जबरदस्ती हम पर लादने में कोई त्रुटि नहीं (इन्कट, जून 1970)।



हबीब तनवीर के थियेटर के जीवन की पहली मजिल थी 'आगरा बाजार'। 'मिट्टी की गाड़ी' ने उनके सामने रास्ता स्पष्ट किया और दूसरी मजिल बनी, अगला नाटक 'गाव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद' (1973)। स्वयं उनके शब्दों में —

“जहा-जहा मेरे अपने शऊर में, मेरी कॉनशसनेस में डेवलपमेंट नजर आया है, जहा मुझे लगता है कि मैंने कोई नयी चीज दी है, उसे मैं अहमियत देता हूँ। उस हिसाब से पहली मजिल थी आगरा बाजार और 'गाव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद' दूसरी—बहुत बड़ी मजिल, 'चरनदास चोर' से भी ज्यादा बड़ी। यह मेरा पहला मोड़ था जहा से मैंने वह दिशा पकड़ी जो आगे मेरी अपनी दिशा बनी, जिस खासियत के कारण आज मैं देश-विदेश में जाना जाता हूँ। लोग 'चरनदास चोर' को ज्यादा जानते हैं, उसे ज्यादा अहमियत देते हैं क्योंकि एक पूरे नाटक के तौर पर वह ज्यादा पापुनर हुआ लेकिन 'चरनदास चोर' मुमकिन हुआ गाँव का नाम ससुराल' के कारण। लोक कलाकारों को लेकर पहली बार मैंने ठोकर से काम किया इस नाटक में। लोक-कलाकारों की खासियत होती है उनकी आशु शक्ति मतलब अग्रेजी में जिसे इम्प्रोवाइजेशन कहेंगे। प्रसंग के मुताबिक वे डायलाग बनाते चलते हैं, कविता और गीत भी गढ़ लेते हैं उनमें यदि कोई शायर हुआ तो। पिछले कई सालों से इन कलाकारों के साथ काम करने के दौरान मैंने यह महसूस किया कि इनकी इस ताकत का इस्तेमाल करना चाहिए तभी हम इनकी पूरी कैपेसिटी (क्षमता) को जान-समझ पायेंगे। गाव का नाम ससुराल में मैंने उन्हें पूरी छूट दी। इसमें मैंने तीन कहानियाँ रखी हैं। उन कहानियों की रूपरेखा मैंने उन्हें बना दी—एक सीनेरियो जैसा बना लिया और उन्हें बतला दिया कि कहानी यहा से शुरू होती है, ये-ये होता है और यहा खत्म होती है। अब तुमलोग खड़े होकर डायलाग बनाओ और बोलो। वे चालू हो जाते। अब उस बोलने में शुरू में कुछ बहवास भी करते कुछ बड़ी खूबमूरत चीजें बोल जाते, कुछ दोहराते भी। बीच-बीच में मुझे जरूरत महसूस होती तो

उन्हे टोकता, रोकता । इस तरह धीरे-धीरे करके दो-चार हफ्तो मे बहुत कुछ तै हो गया और तब मैने बैठकर पहला ड्राफ्ट लिख डाला । लाकर उन्हे सुनाया और कहा कि अब तुमलोग इसे भूल जाओ और अपने डायलाग बोलो । करते-करते एक जगह आकर नाटक ठहर गया । ये कलाकार पढ़े-लिखे तो होते नहीं इसलिए इस तरह के इम्प्रोवाइजेशन के कारण वे सहज अनुभव करते हैं, बात मे से बात निकलती चलती है । बहुत बार वे बड़ी खूबसूरत बात बोल जाते हैं, बात जिसकी ओर आम तौर पर मेरा ध्यान हो न जाता । इस तरह की आजादी के कारण कलाकारो को एक और फायदा होता है, वे ज्यादा खुलकर अभिनय करते हैं । हर शो बदला हुआ होता है, कुछ छूट जाता है, कुछ नया जुड़ जाता है । अब हमलोगो को तो इस तरह मर्जी के मुताबिक छोड़ने और जोड़ने मे परेशानी होती है लेकिन इन कलाकारो को कोई दिक्कत नहीं होती क्योंकि ये आदी होते हैं इसके । इनके साथ तो मजा यह होता है कि कोई ऐक्टर यदि कोई नई बात कह गया तो उस पर यकीनन सामने वाले को कोई नयी बात सूझ जानी है और बात आगे बढ़ चलती है । वैसे यह सही है कि थोडा बहुत इधर उधर भटकने के बाद तय रास्ते पर आना जरूरी होता है, आ भी जाते हैं । कभी-कभी दिक्कत भी होती है हमारे एक ऐक्टर थे ठाकुरराम । बड़े अच्छे ऐक्टर थे, बड़ी सूझबूझवाले । मर गये बेचारे । गांव का नाम मे काम करते थे, शो मे बीस-बीस मिनट का फर्क पड़ जाता था । डायलाग भूल जाते थे और कोई नयी बात छेड़ देते थे और फिर उसे ही बढ़ाते चलते थे । ऐसे मे सामने वाले ऐक्टर को परेशानी होती थी । थोड़ी देर तो ठीक रहता लेकिन जब ये ज्यादा बढ़कने लगते तो उसे परेशानी होती कि कैसे इन्हे वापिस लाया जाय । तब धीरे से ठाकुरराम को बतलाना पड़ता था कि—दादा, यह रिहर्सल नहीं शो है, लाइन पर आइए ।”

इस प्रश्न के उत्तर मे कि क्या आप उनकी सब बात मान लेते हैं, हबीब बोले—“सब नहीं । वे हीरे-मोती भी लाते हैं और ककड-पत्थर भी । हीरे-मोती मैं रख लेता हूँ, ककड-पत्थर छोड़ देता हूँ । जैसा कि मैं कह चुका हूँ कि फोर कलाकारो की ताकत को मैने सही ढंग से गाँव का नाम समुराल मे ममभा, उसका पूरा इस्तेमाल किया, ऐक्टरो को छूट दी कि वे खुलकर अभिनय करे और मेरा खयाल है कि मैं अपने मकसद मे कामयाब रहा ।

गाँव का नाम सन् 1973 में किया। दस साल हो गये, हम एक साथ बड़े मजे में काम कर रहे हैं। वे हमारे साथ खुश हैं, हम उनके।”

(साक्षात्कार, नाट्य शोध संस्थान, 1984)

इसी प्रसंग में हबीब तनवीर ने उन कार्यशालाओं की चर्चा की जो उन्होंने आठवें दशक में की। पहली नाचा वर्कशाप थी जो उन्होंने सन् 1973 में की। नाचा छत्तीसगढ़ का एक लोकनाट्य रूप है। रायपुर में नाचा के करीब सौ कलाकारों के साथ एक महीने तक काम किया। इस वर्कशाप के दौरान लोक कलाकारों द्वारा किया जाने वाला मेकअप तथा सही प्रामाणिक वेशभूषा और गहनों को लेकर भी खोज-बीन चालू रही। आम तौर पर नाचा में इन सबको विशेष महत्व नहीं दिया जाता। वर्कशाप के बाद ‘गाँव का नाम सुसुराल मोर नाम दमाद’ का मंचन हुआ जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इसका प्रदर्शन छत्तीसगढ़ के गाँवों में घूमघूमकर किया गया, खूब लोकप्रिय हुआ। उस जमाने में सुप्रसिद्ध फिल्म निर्देशक-निर्माता श्याम बेनेगल भी इस ओर आकृष्ट हुए और हबीब ने एक और वर्कशाप कर डाली गणवानी में। गणवानी छत्तीसगढ़ की एक और शैली है जिसमें महाभारत प्रस्तुत करते हैं। उस समय सैटेलाइट का एक्सपेरिमेंट हो रहा था। हबीब तनवीर को यूनिसेफ के लिए छोटी-छोटी फिल्में बनाने का काम मिला। छत्तीसगढ़ क्षेत्र में प्रचलित कहावतों, कहानियों, निरर्थक कविताओं, बच्चों की कविताओं आदि को लेकर उन्होंने आठ-आठ, दस-दस मिनट की ढेरो फिल्में बना डाली। इस सारे काम में श्याम बेनेगल साथ थे। उन्होंने इन फिल्मों के साथ ही नया थियेटर के काम को लेकर एक डाक्यूमेंटरी बनाना शुरू किया। ढेरो हिस्से फिल्माये और वे शायद उनके पास पड़े भी हों पर दुर्भाग्य कि फिल्म नहीं बन पायी अन्यथा वह नया थियेटर के काम का बड़ा महत्वपूर्ण दस्तावेज होता।

‘गांव का नाम’ के बाद हबीब की दूसरी महत्वपूर्ण प्रस्तुति थी ‘चरनदास चोर’ लेकिन उसकी चर्चा के पहिले उन प्रस्तुतियों की चर्चा जो उन्होंने सन् 1959 से 1975 के बीच की। सबसे पहले मोलियर का फार्स ‘दी बुर्जुआ जेटलमैन’। भारतीय रूपान्तर ‘मिर्जा शोहरत बेग, सन् 1959 में जामिया मिलिया के लिए किया। रूपांतर और निर्देशन हबीब तनवीर का था। इसे ही सन् 1960 में नया थियेटर के लिए किया। मुख्य भूमिका में

थे मजीत, बाद मे हबीब वह रोल करने लगे। सन् 1981 मे इसे आइ० आइ० टी० के लडको के साथ किया। अब इसका नाम 'लाला शोहरत राय' हो गया था। इसके अनेक शो बाद मे नया थियेटर के लिए हुए। हेमा सहाय इसमे नयी-नयी आयी थी। बाद मे छत्तीसगढी कलाकारो के साथ भी यह खेला गया, गोविन्दराम इसमे मुख्य भूमिका मे थे। 'लाला शोहरत राय' के एक प्रदर्शन के दौरान सन् 1982 मे कलकत्ता मे एक बडी अप्रिय घटना हुई। सुबह का रिहर्सल खत्म करके ये लोग नीचे उतरे। सड़क पर एक भीख मागनेवाला अपनी लडकी के साथ गाते हुए जा रहा था। इन लोगो को उनके कठस्वर ने खींचा। उसे कला मन्दिर के गेट के भीतर बुलाकर हबीब वगैरह गाना सुनने लगे। दरवानो ने इस पर आपत्ति की। हबीब को आपत्तिवाली कोई बात ही नही समझ मे आयी। आम आदमी का और ऊपर से एक कलाकार का यह अपमान उन्हें बहुत नागवार गुजरा। कहा-सुनी हो गयी जबरदस्त। शाम को हबीब ने प्रदर्शन तो किया पर उसके पहले तकरीर की, अपना विरोध दर्ज किया और तै किया कि आगे से वे कभी कलामन्दिर के मंच पर नाटक नही करेगे। कलकत्ता के दर्शको से उन्हें बहुत प्रेम मिलता है लेकिन इस अप्रिय घटना ने उनके मन मे कडुआहट पैदा की जो आज तक बरकार है।

इसके बाद क्रम शुरू हुआ हिन्दी से इतर भाषाजो मे नाटक करने का। सन् 1962 से 1965-66 के बीच हबीब एक के बाद एक उर्दू और अग्रेजी मे नाटक करते रहे। 'रुस्तम और सोहराब' (1960 \* आगा हश्म काश्मीरी का उर्दू नाटक), 'दी गुड परसन आफ सेतजुआन' (1962 \* ब्रेश्ट), 'दी सिगनेट रिग आफ राक्षस' (1969 : विशाखदत्त), 'दी शू-मेकर्स प्राडिजस वाइफ' (1965 लोर्की), 'दी इम्पारटेम आफ बीइंग अरनेस्ट' (1965 आस्कर वाइल्ड), 'दी टेमिंग आफ दी श्रू' (1969 शेक्सपियर) और 'सरबेट आफ टू मास्टर्स (1969 गोल्डनी)। 'सोहराब और रुस्तम' मे मजीत मुख्य भूमिका मे थे। अग्रेजी की सभी प्रस्तुतिया कालेजो के लिए या ट्रेनिंग कैम्पो के दौरान की गयी। 'गुड परसन ऑफ सेतजुआन' शिक्षा मन्त्रालय के डामा टीचर्स कैम्प के दौरान किया गया। इसमे सुषमा सेठ गुड वोमन, मोनिका तनवीर प्रीस्ट और हबीब कारपेट बेचनेवाले बने। 'सिगनेट रिग आफ राक्षस' मे हबीब ने पहली बार कुचीपुडी पदों का इस्तेमाल किया। पी० लाल के अनुवाद के साथ विलसन का नादी जोडा गया था। इसमे



चाणक्य की भूमिका में आफताब थे, वसन कुमार भी थे। 'दी शू-मेकर्स प्राडिजस वाइफ' मेसूर-बगलोर के ड्रामा टीचर्स कैम्प में किया गया था जिसमें शकर पिल्लई सहयोगी थे। अनीता सील मुख्य भूमिका में थी। 'दी इम्पारटेम आफ बीइंग अरनेस्ट', 'दी टेमिंग आफ दी थ्रू' और 'मरवेट आफ टू मास्टर्स' दिल्ली में किये गये। इनमें राजीव मेठी, मारास गर्च, सीलिया गोरे बूथ, सुपमा सेठ, रोशन और कबीर सेठ वगैरह ने अभिनय किया।

अंग्रेजी नाटकों का दौर जल्दी ही समाप्त हो गया और हबीब फिर लौट आये अपनी धरती की ओर, शुरू हुए उर्दू हिन्दी, छत्तीसगढ़ी के नाटक। सन् 1968 में गालिब के जीवन पर आधारित नाटक किया 'मेरे बाद'। गालिब की शताब्दी के अवसर पर उनके जीवन से सम्बन्धित एक नाटक तैयार करने का प्रस्ताव गालिब कमेटी की ओर से आया। पस्तुति के लिए हबीब को पांच हजार रुपये मिलनेवाले थे। हबीब जूट गये नाटक लिखने में पर काम आसान न था। ऐयाश और सफल शायर गालिब जितना हबीब के निकट थे उससे कहीं निकट थे तनहा गालिब, अपमानित गालिब, द्वैजिक गालिब। उन्होंने उसी ढंग पर नाटक लिखा। पर न नाटक को लिखने का पूरा समय मिला न तैयार करने का। प्रदर्शन चला माडे तीन घंटों तक, अतः तब वह रहे जिनमें धीरज असीम था या जो इष्ट-मित्र थे। स्वयं हबीब के शब्दों में 'इट वाज ए स्पेक्टैकुलर फॉर्प'।

यद्यपि गालिब की पस्तुति सफल नहीं रही तथापि कई दृष्टियों में महत्वपूर्ण थी। पहली तो इसकी भाषा। इस नाटक को लिखने के लिए उन्होंने रतननाथ दर सरशार के चार जिल्द वाले उपन्यास 'फगाने-आजाद' का खूब पारायण किया। हबीब के अनुसार सरशार द्वारा इस्तेमाल की गयी उर्दू का सानी नहीं। गालिब में उन्होंने फगाने आजाद की भाषा को ही अपना आदर्श बनाया। लोगो की नजर में हबीब द्वारा इस्तेमाल की गयी उर्दू में सबसे बेहतर उर्दू गालिब में देखन को मिलती है। दूसरी खास बात कि एक-दो गजल के अलावा उन्होंने गालिब की गजलों को पढ़ा, गाया या गवाया नहीं। उनकी दृढ़ मान्यता है कि जब गजल गायी जाती है और उस पर बाहवाही मिलती है तो उसका कारण गजल का मतलब उतना नहीं होता जितना उसका संगीत। लोग काफिया मिलने पर बाह-बाह करते हैं, गायकी

पर भूमते हैं पर अधिकतर वे गजल के अर्थ की बारीकी से बेवाक़िफ़ रहते हैं। इसलिए उन्होंने नाटक में गजले पढ़ी ताकि उनका अर्थ लोगो तक पहुँच सके। इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा कि—“गजल या कविता पढ़ना और उसके अर्थ को, मर्म को श्रोताओ तक पहुँचाना आसान काम नहीं। यह काम एक ऐक्टर बहुत अच्छी तरह कर सकता है। स्वयं शायर तो बहुत बार बहुत खराब पढ़ते हैं, न उनकी आवाज़ अच्छी होती है न पढ़ने का ढंग।” ऐक्टर होने के नाते, एक लेखक होने के नाते और ग़ालिब के भक्त होने के नाते उन्होंने बिना संगीत की सहायता के ग़ालिब के दुख को, दर्द को, चाहत को दर्शको तक पहुँचाने की कोशिश की। दुख की बात है कि हडबडी में तैयार करने के कारण प्रस्तुति असफल रही। इसे फिर से करने की तमन्ना आज भी उनके मन में है पर वह शायद ही पूरी हो पाये। बोले—“वो ऐक्टर कहा है जो टिपिकली दिल्ली की बेहतरीन उर्दू बोल सके।” ग़ालिब के लेखन की बात करते-करते हबीब ने यह भी बतलाया कि ग़ालिब जितने अच्छे शायर थे उतने ही अच्छे गद्य लेखक भी थे। उन्होंने कहा—‘मैंने भी महसूस किया और दूसरे सीनियर लोगो ने भी कहा कि जो शायरी करता है वह प्रोज भी अच्छा लिखेगा ही। यह बात मुझे ग़ालिब में नज़र आयी। मैं उनके प्रोज और पोएट्री दोनों का कायल हूँ।’

ऐक्टरों की ट्रेनिंग और उसके लिए इस्तेमाल की जानेवाली भाषा के सम्बन्ध में हबीब बहुत ही स्पष्ट हैं—

“भाषा का अभिनय के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध होता है और कोई ऐक्टर एक दूसरी भाषा में जो उनकी मातृभाषा नहीं है—अच्छा अभिनय कर ही नहीं सकता। बात केवल सवाद रटकर बोल लेने की तो नहीं है, भाषा का उतार-चढ़ाव, उच्चारण में स्ट्रेस, वजन सब सही न हो तो सुनने में बहुत तकलीफ़ होती है। मैं तो भाषा के बारे में बहुत पटिंकुल हूँ। जो जुबान बोलो सही बोलो। हिन्दी बोलो तो शुद्ध बोलो, उर्दू बोलो तो सही-सही। मैं खुद इतनी अच्छी अंग्रेज़ी जानता हूँ, बोलता हूँ पर उसमें वह ताकत कहा जो मेरी उर्दू में होती है। हर भाषा का अपना एक रिदम होता है, उसे पकड़ना आसान नहीं। वह तो मातृभाषा में ही सही रूप में आता है। इतना ही नहीं हमारा हाथ हिलाना, सिर हिलाना भी अलग-अलग ढंग से होता है और वह अपनी भाषा के साथ बड़े स्वाभाविक

रूप में आता है। एक साउथ इंडियन का सिर हिलाकर हा कहना, हमारे लिए ना हो सकता है। बात केवल लबोलहजा और तलपफुज की नहीं है बल्कि सारे सस्कार, तमाम ईथोज उठने-बैठने, चलने-फिरने, खाने-पीने की होती है, पूरे कल्चर की होती है। फिर हर भाषा में कुछ ध्वनियाँ उच्चारण में ऐसी होती हैं जिन्हें सही-सही उतार पाना कठिन होता है। नयी ध्वनि का उच्चारण न इधर का रहता है न उधर का। अंग्रेजी के “ह” का उच्चारण हम हिन्दुस्तानियों के लिए बहुत कठिन है, उर्दू के नुक्तों का उच्चारण उर्दू न बोलनेवालों के लिए भी उतना ही कठिन होता है। ऐसी तमाम मिसालें दी जा सकती हैं। मेरे कहने का मतलब यह कि ऐक्टर की ट्रेनिंग उसकी अपनी मातृभाषा के माध्यम से होनी चाहिए। एन० एस० डी० की ट्रेनिंग के खिलाफ मेरा यह जोरदार मत है कि केवल हिन्दी के माध्यम से ट्रेनिंग पाने के कारण अहिन्दी भाषा-भाषी ऐक्टरों का बड़ा नुकसान होता है। वे हिन्दी ठीक से बोल नहीं पाते और हिन्दी बोलने के चक्कर में, उसका अभ्यास करने के चक्कर में उनकी अपनी भाषा का भी बारह बज जाता है। मैं इसे बहुत अहमियत देता हूँ।”



मन् 1970 में हबीब तनवीर ने 'आगरा बाजार' का नये सिरे से मंचन किया। मूलतः मन् 1954 में प्रस्तुत आगरा बाजार ने तब भी दर्शकों का मनोरंजन किया था, अब भी किया। प्रतिक्रियाएँ मिलती-जुलती ही थी क्योंकि नाटक की प्रस्तुति आदि का स्वरूप पुराना वाला ही था, केवल कुछ कलाकार बदल गये थे। 'आगरा बाजार' के सम्बन्ध में इन्कट 39 में (मार्च, 1970) प्रकाशित रजिन्दर पाल की समीक्षा महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार 'आगरा बाजार' में वह सब कुछ था जो आम तौर पर हबीब तनवीर के नाटकों में हुआ करता है। उन्होंने यह भी कहा कि हबीब की कल्पना बहुत बार आदमी की पकड़ के बाहर होती है और उनकी महत्वाकांक्षा इसको, उसको, उससे परे के उसको—सबको एक साथ समेट लेना चाहती है। हबीब के सवादों के विम्वो और साहित्यिक तत्वों की उन्होंने प्रशंसा की और यह भी कहा कि कथा और प्रस्तुति हर दृष्टि से यह आम आदमी का नाटक है और इसे शहर-शहर गाँव-गाँव लोगो तक पहुँचना चाहिए।

आश्चर्य की बात है कि मन् 1989 में जब उन्होंने आगरा बाजार की तीसरी प्रस्तुति की तब भी वह चर्चा का विषय रही और दर्शकों ने उसके विभिन्न तत्वों के सौंदर्य को अलग-अलग अनुभव किया, उनको सराहा या उनकी आलोचना की। नाटकीय तत्वों की दुर्बलता के बावजूद नज़ीर अकबरावादी की नज़्मों की खूबसूरती और स्वयं हबीब के सवादों की खूबसूरती, उनके द्वारा रचित वातावरण, बाजार का माहौल, ककड़ीवाले, तरबूजवाले और लट्ठूवाले की नोक-भोक, बदर का नाच, मंडक पर गानेवालों द्वारा तत्कालीन—और साथ ही समकालीन—स्थितियों पर टीका-टिप्पणी, बाईजी का कोठा आदि सबने अलग-अलग दर्शकों का ध्यान आकृष्ट किया। नन्ही कपूर के अनुसार "आगरा बाजार में अनेकता में एकता का तत्व जोरदार और स्पष्ट शब्दों में उभरकर आता है—स्पष्टता ऐसी जो कटग्लाम जैसी साफ है लेकिन जिसकी धार बरकरार है।" और यह भी कि "हर रंगप्रेमी को इसे देखना चाहिए (टाइम्स आफ इंडिया, बम्बई 21.11.89)।" साथ ही इसकी कमियों की ओर भी समीक्षकों ने इंगित किया। आनंद लाल के अनुसार "किसी केंद्रीय बिंदु या निश्चित दिशा के अभाव में नाटक उस ऊँचाई को नहीं पा सका जो अभीष्ट था।" (दी टेलिग्राफ, कलकत्ता, 11.12.1989)।

इसी दौरान नवंबर सन् 1964 में जन्म हुआ बेटी का। नाम रखा नगीन। नगीन के बारे में चर्चा बाद में विस्तार से की जायेगी। हाँ, इस बीच की दो घटनाएँ उल्लेखनीय हैं। सन् 1969 में संगीत नाटक अकादमी ने हबीब को निर्देशन का पुरस्कार प्रदान किया और सन् 1972 में ये छ वर्षों के लिए राज्यसभा के सदस्य चुने गये। उस दिन का किस्सा बड़ा मजेदार रहा। ये लोग उलझे थे एक केस में। काउंटर पर बैठनेवाले एक लड़के ने रुपये मार लिये थे। उसकी रिपोर्ट लिखाई पुलिस में पर परेशानी कि साबित कैसे करे। उधर सोवियत इनफार्मेशन सर्विस वालों ने इन्हें छुट्टी दे दी थी कोई दो सप्ताह पहले। कुछ समय से ये वहाँ नौकरी कर रहे थे पर उन्हें छटनी करनी थी। चपेट में आ गये हबीब। मोनिका जी बेहद परेशान। नोटिस दे दिया कि मैं तुम्हें तलाक दे दूंगी। खैर, इन्हीं सब परेशानियों के बीच एक दिन एक पुलिसवाले ने आकर एक नंबर दिया कि इस नंबर पर बात कर लीजिए। अब आगे का किस्सा सुनिये हबीब के शब्दों में—

“मैंने फोन किया तो मुझसे कहा गया कि मैं राज्यसभा का सदस्य चुना गया हूँ, मैं राजी हूँ न? मैंने कहा—मैं सोचकर बतलाता हूँ। उन्होंने कहा—सोचने का समय नहीं है। मैंने पूछा—इसमें मेरी लायबिलिटी क्या है? वे बोले—पहले हाँ कीजिए फिर सब पता चल जायेगा। सो मैंने हाँ कर दी। असल में उस समय मैं परेशान था। दो हफ्ता पहले सोवियत इनफार्मेशन डिपार्टमेंट से मुझे निकाल दिया गया था—छटनी। सन् 1968 से अब तक चार साल मैंने वहाँ काम किया। मेरे खिलाफ एक तो ये था कि मैं कभी पकचुअल नहीं था। वहाँ टावर पर बैठा एक आदमी देखता था कि कौन गेट क्रॉस कर रहा है समय से। देर होने से नोट कर लेता था। वे कहते थे समय से आइए। वैसे लोग समय से आ जाते थे वहाँ पर काम नहीं करते थे। चाय पीते थे, गपशप करते थे और चले जाते थे। मैं दस बजे रात तक बैठता था। ड्रामे कर रहा था, रिव्यू लिख रहा था। मेरा आउट-पुट सालिड था पर हा, समय से कभी नहीं

पहुँचता था। घर भी कभी समय से नहीं लौटता था। और मजा देखा कि मुझे निकाला पर जब '72 में मैं राज्य सभा का मेम्बर चुना गया तो मुझे उन्होंने दावत दी। खूब खिलाया-पिलाया। बोडका इतनी पिला दी कि होश नहीं रहा।

“इसी मिलसिले में एक और किस्सा सुनिए। राज्यसभा का मेम्बर चुने जाने के बाद एक बार इंदिरा गांधी ने राष्ट्रपति भवन में बैक्वेट पर बुलाया। लिखा था ड्रम फारमल। गर्मी के दिन थे, ऊनी शेरवानी पहनी नहीं जा सकती थी। सफेद शेरवानी सिलवायी, पहनकर पहुँचे बैक्वेट में। पेटर हुसैन भी थे। अब हम दोनों एक दूसरे को देखकर हसे। उन्होंने भी नयी शेरवानी सिलवायी थी और हम दोनों की ही शेरवानिया इल फिटिंग थी, हम दोनों अटपटा फील कर रहे थे।”

‘गाव का नाम’ के बाद सन् 1974 में हबीब तनवीर ने बरौदी, राजस्थान में रूपायन के तत्वावधान में एक वर्कशाप की। राजस्थान की एक लोककथा ‘ठाकुर रो रूमनो’ को वर्कशाप के लिए चुना और वहाँ की खयाल शैली में इसे तैयार करवाया। तैयार नाटक का नाम हुआ ‘ठाकुर प्रिथिपाल सिंह’। अलग-अलग क्षेत्रों में वर्कशाप करके हबीब ने वहाँ के कलाकारों को कुछ प्रदान किया तो स्वयं कुछ पाया भी, स्थानीय लोकरूपों को उन्होंने देखा, समझा, उनसे धुने सीखी और जब जो मौजू लगा उसका अपने बाद के नाटकों में इस्तेमाल किया।

और इसके बाद ‘चरनदास चोर’ (1975) जिसने अपनी ताजगी और रोचकता के कारण पूरे देश में तहलका मचा दिया। चरनदास चोर नाटक की कहानी, उसके नाट्य रूपांतर और मंचन की लंबी कहानी है। हम देख चुके हैं कि कैसे हबीब धीरे-धीरे लोकनाट्यों विशेषकर मध्यप्रदेश के लोक-नृत्यों, लोकनाट्यों, की ओर आकृष्ट हो रहे थे। उन्होंने मध्यप्रदेश के एक लोकनाट्य रूप ‘नाचा’ को लेकर एक वर्कशाप की थी। करीब सौ कलाकारों ने उसमें भाग लिया। उस वर्कशाप में नाचा में किये जानेवाले मेकअप और पहने जानेवाले गहने-कपड़ों के बारे में ग्रामाणिक जानकारी हासिल करने का प्रयत्न भी किया गया। इसके बाद सन् 1974 में राजस्थान में राजस्थानी कलाकारों को लेकर राजस्थानी भाषा में एक नाटक तैयार किया जिसकी चर्चा की जा चुकी है। कहानी एक जगह से शुरू होकर कई गाव होती हुई जोधपुर पहुँचनी थी। विजयदान देवा ने कहानी का नाम रखा था ‘चोर की सच्चाई’ हबीब ने उसे नाम दिया ‘ठाकुर प्रिथिपाल सिंह’। ऑपेरा शैली के

कारण नाटक वहा जमा पर उतना नहीं। लेकिन बाद मे विजयदान का चोर-वाला क्रिस्सा पनपने लगा। दिनभर वह आगे बढ़ता रहा। भिलाई मे वर्कशाप के दौगन राजस्थान मे तैयार किये गये स्किट होते रहे। सारी रात करीब बारह हजार लोग बैठे नाटक देखते रहे। सुबह हो गयी, लोग बैठे ही रहे। दर्शको मे बहुत मे पथी भी शामिल थे। पथी सतनामियो का एक सेक्ट होता है, इसके मानने वाले चमका जाति के लोग होते है अर्थात् चमार। ये कबीरदाम को अपना गुरु मानते है और इनका मन्त्र-वाक्य होता है सत्य ही ईश्वर है। तो हबीब ने सोचा सैकड़ो पथी बैठे है क्यों न इनके सामने चोरवाली कहानी रखी जाय क्योंकि वह इनके दर्शन के अनुकूल थी। कहानी का चोर चोरी तो करता है पर भूठ नहीं बोलता। चोरी का धन भी वह जरूरतमंदो के बीच बांट देता है। यद्यपि नाटक बहुत कच्चा था लेकिन इतने बड़े दर्शक-समूह और विशेषकर पथियो को सामने पाकर हबीब उन्हें वह नाटक दिखलाने का लोभ सवरण नहीं कर सके। ऐलान किया कि नाटक कच्चा है, कुल दो दिन उस पर काम किया है फिर भी आपको दिखलाना चाहते है क्योंकि आपके विचारो और सिद्धांतो मे फिट बैठता है। एकाध ऐक्टर को ठीक किया, बीच मे बैठकर गाने को भी ठीक किया और करीब 50 मिनिट के चोर-चोर नाटक को दर्शको को दिखला दिया। वह कच्चा नाटक भी बहुत पसंद किया गया। श्याम बेनेगल साथ थे। उन्होंने देखा तो कहा इसकी तो फिल्म बनायेगे। हबीब ने झट स्क्रीन प्ले लिख डाला। स्क्रीन प्ले मे कुछ जोड़ना जरूरी हो गया तो एक दृश्य लिखा गया चरनदास की मृत्यु के बाद का। मरने के बाद भी चरनदास अपनी हरकत से बाज नहीं आता और चित्रगुप्त के खाते से अपने नाम की चोरी कर लेता है। चित्रगुप्त परेशान। कहते है—तुम्हारा नाम तो खाते मे नहीं, तुम कैसे आ गये? चोरी पकड़ी न जाये इसलिए चरनदास अपने नाम का पान बनाकर खा जाता है। तब तक अपने भैसे पर यमराज पहुंचते है तो यह उनके भैसे पर सवार हो भाग जाता है और स्वर्ग के पहरेदार इस पर खूब खुश होते है। फिल्म मे चरनदास का एक बेईमान दोस्त था, एक मुकदमा वगैरह भी होता था, हबीब जज बनते थे, बहुत मनोरंजक और हंसानेवाला दृश्य बनता था। फिल्म मे जोड़े गये ये दृश्य बाद मे नाटक मे शामिल किये जाने लगे लेकिन कुछ समय ब द हबीब को लगा कि इससे नाटक टूटता जा रहा है, इस तरह जोड़े गये दृश्य नाटक को टुकड़े-टुकड़े मे बांट दे रहे है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि फिल्म मे जितना कुछ दिखलाना जरूरी होता है उतना मंच पर नहीं।

मंच पर बहुत कुछ की मूचनाएँ देकर कथा को आगे बढ़ा दिया जा सकता है। फिल्म के लिए विशेष रूप से जोड़े गये दृश्यों में अधिकारी को उन्होंने बाद दे दिया, नाटक बहुत कुछ अपने मूल रूप में वापिस आ गया, नाम रखा अमर दास लेकिन अमरदाम मतनामियों के एक गुह्य थे अतः उनके आग्रह पर नाटक का नाम बदला गया और वह अमरदाम के बदले 'चरनदास चोर' हो गया। और यह 'चरनदास चोर' नाटक पिछले पंद्रह वर्षों से देश-विदेश में सफलतापूर्वक खेला जा रहा है, सैकड़ों से अधिक प्रदर्शन हो चुके हैं, जहाँ भी जब भी खेला जाता है, इसे दर्शकों की अकुल प्रशंसा मिलती है। अब हम 'चरनदास चोर' की सफलता के कारणों पर थोड़ा विस्तार से विचार करें।

पिछले दस-पंद्रह वर्षों में जिम टोटल थियेटर की बात उठते-बैठते बराबर की जा रही है, जिसकी आवश्यकता पर बड़े जोरों में बल दिया जा रहा है, संभवतः चरनदास चोर उसका एक सफल नमूना था। परम्परागत भारतीय नाटक तो संगीत-नृत्य से समन्वित होते हैं, चाहे वह शास्त्रीय हो या लोक। शहरी आधुनिक रंगमंच पर भी संगीत-नृत्य को समन्वित करने या जोड़ने के दौर आते रहते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे-पाचवें दशक से पूरे देश में शहरी नाटकों का चलन प्रारंभ हुआ—कहीं दस-बीस साल पहले कहीं दस-बीस साल बाद। प्रारंभिक वर्षों में संगीत और नृत्य नाटक का अभिन्न अंग होते थे, यह परम्परा बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक तक चली। पाचवें दशक तक आते-आते नाचने-गाने के प्रति एक प्रकार के तात्क्षिकता का भाव लोगों में घर करने लगा क्योंकि यह काम पेशेवर स्त्रियों के साथ विशेष रूप से जुड़ा था। आधुनिक युग की गद्यात्मकता (prosaicness), तथ्यात्मकता (matter to the fact) और मनोवैज्ञानिक चित्रण के आग्रह ने लेखकों एवं निर्देशकों को नाच-गाने के वर्जन के लिए प्रेरित किया और इस प्रकार पाचवें से सानवें दशक तक लिखे और खेले गये नाटकों में नाच-गाना वर्जित-सा हो गया। लेकिन इस वर्जन के फलस्वरूप नाटक शुष्क होने लगा, आम दर्शक नाटकों के प्रति उदासीन होने लगे, ऐसी कृतियों से उनका मनोरंजन नहीं होता था। मनोरंजन जरूरी था और मनोरंजन के लिए जरूरी था नाच-गाना और हास्य। दर्शक उन कृतियों के प्रति सहज स्वाभाविक रूप से आकृष्ट होने लगे जिनमें ये तत्व होते थे। सन् 1970 तक आते-आते यह बात बहुत साफ होने लगी थी। 'चरनदास चोर' इन सारे तत्वों से समन्वित था, वह दर्शकों का मनोरंजन करता था, उन्हें नाच-गाने के रस का आनंद देता था,



उन्हे हसाता था, उनके आसपास की दुनिया की सच्चाई को उनके सामने खोलकर रखता था, धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्र में दिखलाई रखनेवाली विसंगतियों से उनका साक्षात्कार कराता था, इस सबमें वह डूबकर अपने को भूलकर विशुद्ध आनंद की प्राप्ति करता था। और यह सब बिना किसी अश्लीलता, नग्नता या भोड़पन के होता था। यदि कुछ भोड़पन कहीं या भी तो ग्रामीण जीवन और अभिव्यक्ति का सहज अंग था, हसाने या गुदगुदाने के लिए विशेष रूप से आरोपित क्रिया-कलाप नहीं। यह प्रक्रिया पिछले पंद्रह वर्षों से चल रही है, 'चरनदास चोर' जितना सफल और लोकप्रिय सन् 1975 में था उतना ही सन् 1993 में है।

चरनदास की सफलता का कारण केवल उपर्युक्त तत्वों का समन्वय ही नहीं था, कारण था लोक कलाकारों द्वारा उपर्युक्त तत्वों का संप्रेषण। जिम शक्ति और ऊर्जा, सहज नमनीयता (flexibility), तत्काल सवाद बनाने या परिस्थिति के अनुकूल आचरण करने की सहजता का उन्होंने परिचय दिया, वह अद्भुत था। उसके अभाव में नाटक क्या बनना, कितना लोकप्रिय होता कहना कठिन है।

'चरनदास चोर' का कथानक एक साथ ही वास्तविक भी है और काल्पनिक भी, परी-कथा की तरह कहानी की परतें खुलती चलती हैं। चरनदास एक चोर है जिसने एक साधु के सामने प्रतिज्ञा की थी कि वह कभी भूठ नहीं बोलेगा। उसने किसी अवसर पर यह भी प्रतिज्ञा की थी कि न हाथी पर बैठेगा न सोने की थाली में खायेगा और न हीं सिंहासन पर विराजेगा। चोर होने के बावजूद वह लोगों का प्रेम और श्रद्धा प्राप्त करता है क्योंकि चोरी के धन का वह गरीबों और जरूरतमंदों के बीच बांट देता है। लेकिन अपनी भूठ न बोलने की प्रतिज्ञा के कारण परेशानियों में पड़ता रहता है और उसकी परेशानियां दर्शकों को हसाती रहती हैं। विभिन्न घटनाओं, स्थितियों के बीच से आगे बढ़ती हुई कथा कहीं आज के समाज की हलकी चुटकी लेती है, कहीं उसे करारा तमाचा लगाती है, कहीं उस पर तीखा व्यंग्य करती है तो कहीं पलभर रुककर सोचने को मजबूर करती है। अंत के 10 मिनट पहले तक विशुद्ध हास्य-व्यंग्यवाली कृति अचानक एक मोड़ लेती है। अपनी प्रतिज्ञाओं के कारण रानी के प्रस्ताव को अस्वीकार करने के कारण चरनदास को मृत्यु का वरण करना होता है—कामेडी अचानक ट्रेजेडी बन

जाती है, नाटक सुखात की ओर बढ़ते-बढ़ते अचानक दुखात में रूपांतरित हो जाता है। नाट्यकार हबीब तनवीर ने बड़ी कुशलतापूर्वक कथानक को गूथा है, गढ़ा है और अंतिम मोड़ दिया है। निर्देशक हबीब तनवीर ने लिखित नाटक की ऊर्जा को उपयुक्त नाच-गाने एवं गतियों तथा अभिनय के माध्यम से अत्यंत सशक्त कृति के रूप में मंचित किया, लोक कलाकारों एवं लोकतत्वों के समन्वय द्वारा उसे न केवल समृद्ध किया वरन् प्राणवत् बनाया। संगीत परिकल्पक हबीब तनवीर ने उपयुक्त लोक धुनों और लय-छंद को चुना और उनसे अपनी प्रस्तुति को प्राणवत् बनाया। अभिनेता हबीब तनवीर ने हवलदार के रूप में एक कुशल कामदी कलाकार का परिचय दिया, प्रस्तुति को रोचक और गतिशील बनाया। यद्यपि यह सही है कि 'चरनदास चोर' की सफलता का बड़ा श्रेय चरनदास की भूमिका में काम करने वाले कलाकार गोविन्द राम और बाद में उसी भूमिका में काम करनेवाले कलाकारों मदनलाल तथा दीपक तिवारी और रानी की भूमिका में अभिनय करनेवाली किवंदती (legendry) कलाकार फिदाबाई और बाद में पूनम बाई को है तथापि सशक्त, रोचक नाट्यालेख, कल्पनाशील निर्देशन एवं प्रस्तुति, लोकधुनों और लयों के समन्वय ने उनके लिए उपयुक्त स्थितियों की सृष्टि की थी, उपयुक्त वातावरण प्रदान किया था। सच पूछा जाय तो चरनदास की सफलता का कारण इन सब तत्वों का कुशल संयोजन एवं समन्वय था जिसने समीक्षकों द्वारा इसे 'आधुनिक युग का गौरवमय ग्रंथ (क्लासिक)' की संज्ञा से भूषित किया है। अवश्य ही दृश्यकव्य के रूप में यह गौरव केवल ग्रंथ तक नहीं सीमित है, उसका विस्तार प्रस्तुति तक है। हम चाहे तो इसे गौरव-प्रस्तुति कह सकते हैं।

गत पंद्रह वर्षों में 'चरनदास चोर' के न जाने कितने प्रदर्शन हो चुके हैं, देश के विभिन्न अंचलों में इसका सफलतापूर्वक मंचन किया जा चुका है, विदेश के अनेक शहरों में यह अपनी ही नहीं हमारे देश की जयदुधुभी बजा चुका है। बिना पढ़े-लिखे गाँव से रहनेवाले लोककलाकारों ने सर्वत्र अपनी शक्ति, क्षमता और ऊर्जा से दर्शकों को मुग्ध किया है, यह प्रमाणित किया है कि कलाकार के लिए रूपसौंदर्य उपयोगी हो सकता है लेकिन अनिवार्य नहीं (हबीब के साथ काम करनेवाले अधिकांश कलाकार रूपवान नहीं हैं) और कलात्मक सृजन केवल शहरवालों की बपौती नहीं। उन्होंने, साथ ही हबीब ने भी, यह प्रमाणित किया कि हमें अपने देश की ऊर्जा को पहचानना चाहिए, यथासंभव

शहरी और ग्रामीण पार्थक्य को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए, दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने की दिशा में काम करना चाहिए।

‘चरनदास चोर, की सफलता ने हबीब को नया बल दिया नहीं तो सन् 1970 से 1973 के बीच का समय हबीब के लिए बड़ा कष्टदायक था। वे जो कुछ करते अधिकतर असफल रहता। करीब 15 वर्षों बाद कलकत्ता में टेलीग्राफ के लिए सुस्मिता गुप्ता से बात करते हुए उन्होंने कहा—

“शुरू में सब कुछ आसान नहीं था। सच्चाई तो यह है कि सन् 1970 से 1973 के बीच का समय बड़ा कष्टदायक था। मेरे सारे प्रयत्न असफल हो रहे थे क्योंकि मुझमें लोगों को समझने की शक्ति की कमी थी। मैं छत्तीसगढ़ क्षेत्र में काम कर रहा था, उस अचल और वहाँ की भाषा से परिचित था लेकिन वहाँ के लोगों का विश्वास नहीं जीत पाया था। गाववाले शहरी लोगों से बहुत डरते हैं और यह तब मेरी समझ में आया जब उनसे बातचीत करना, उनके साथ आदान-प्रदान करना मेरे लिए अनिवार्य हो गया। मैंने उनसे मेरे साथ-साथ कहानी और मूवमेंट गढ़ने के लिए कहा और तब वे धीरे-धीरे खुलने लगे। उसके बाद से मैं भी उनके साथ विकसित होने लगा, मुझे भी थियेटर के नये पाठ पढ़ने को मिले।” (दी टेलीग्राफ, कलकत्ता, 5 4 1987)। इसी बातचीत के दौरान उन्होंने यह भी कहा कि—“मैं देशी कला-कौशल और तौर-तरीकों के पक्ष में हूँ और ऐसा मैं केवल संस्कृति के क्षेत्र में नहीं बल्कि कृषि, कला-कारखाने, शिक्षा सभी क्षेत्रों में चाहता हूँ। साथ ही संस्कृति की प्राभाणिकता में भी मेरा गहरा विश्वास है।” (दी टेलीग्राफ, कलकत्ता, 5.4 1.87)

बड़े आश्चर्य की बात है कि हबीब के नया थियेटर में सीखने-सिखाने का काम एक-तरफा नहीं दोतरफा था। दो पक्षों में एक ओर थे हबीब तनवीर जो उच्च शिक्षा प्राप्त थे, जिन्होंने इंग्लैंड-यूरोप में थियेटर की शिक्षा प्राप्त की थी, जिन्होंने वर्षों तक पश्चिम की आधुनिक रंग-पद्धति का अध्ययन किया था, उन्हें देखा था और उनका उपयोग किया था। दूसरी ओर थे रायपुर जिले के छत्तीसगढ़ इलाके के अनपढ़ ग्रामीण जिनमें से कइयों ने पाठशाला का मुह भी नहीं देखा था, जो अपने गाव के आसपास के इलाकों से बाहर नहीं गये

थे, जिन्हें अपने क्षेत्र के लोक नाच-गानों के अलावा और किसी प्रकार के नाच-गाने का ज्ञान नहीं था, जो नाटक की मचन पद्धति से सर्वथा अनभिज्ञ थे। पर ये दोनों पक्ष एक दूसरे से परिचित हुए, दोनों में आपस में टकराहट हुई, डरते-सहमते हुए ही दोनों ने एक दूसरे की शक्ति और क्षमता को पहचाना, परस्पर निकट आते गये और धीरे-धीरे एक दूसरे के भक्त बनते गये। हबीब द्वारा चुने गये कलाकारों में अधिकांश नाचा लोकनृत्य के नर्तक थे अतः संगीत, लय और अभिनय की उन्हें जानकारी होती थी, उनके प्रति उन्हें लगाव होता था। हाँ, वे नाटक के अभ्यस्त बिल्कुल नहीं थे, नाटक का प्रवेश और प्रस्थान आदि उनके लिए एकदम नये थे। काफी लंबे अरसे तक हबीब के साथ काम करनेवाले छत्तीसगढ़ी या ट्राइबल जनजातियों के कलाकारों में भुलवाराम, फिदाबाई, देवीलाल, दीपक तिवारी, शाह नवाज और पूनमबाई आदि सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि वे जो कुछ भी बन सके हैं, साहब की बदौलत। नया थियेटर में लोग हबीब को साहब कहकर ही सम्बोधित करते हैं। नया थियेटर में शुरू से एक पारिवारिक वातावरण जैसा बन गया है, सब एक साथ रहते हैं—हबीब भी। एक साथ काम करते हैं, एक साथ अपना सुख-दुख बांटते हैं। फिदाबाई के अनुसार—‘हमलोग अब एक बहुत बड़े परिवार के रूप में रहते हैं। हम जब साहब के पास काम करने आये, हम एकदम नौसिखुआ थे, प्रवेश, प्रस्थान या अपना क्यू आने पर बोलना इन सबकी हमें कोई जानकारी नहीं थी। साहब से हमने बहुत कुछ सीखा है और उन्होंने भी हमसे सीखा है।’ देवीलाल के अनुसार—‘सत्रह साल पहले जब हम नया थियेटर में आये, हमें इस थियेटर की कोई जानकारी नहीं थी। हम तो नाचा पार्टी के कलाकार थे, गाँव-गाँव घूम-घूमकर नवरात्री वगैरह पर नाच-गाना करते थे। हमलोगों की शैली माडाई कही जाती है और वह बगाल की जात्रा से मिलती-जुलती है। नया थियेटर में आने के बाद हमें बहुत तरह के नाटकों की जानकारी मिली और उन्हें करके हमें सुख मिला।’ भुलवाराम ने पुराने दिनों की याद करते हुए एक बार कहा—‘शुरू-शुरू में हमें बड़ा अटपटा लगता था साहब के साथ। वे बहुत कड़े थे और बड़ी जल्दी गुस्सा हो जाता करते थे। अब स्थिति बहुत बदल गयी है। अब तो यदि वे हमें डांटते हैं तो हम भी बदले में उन्हें घुड़क देते हैं लेकिन इससे आपस में कोई मनमुटाव नहीं होता।’ नया थियेटर के अपेक्षाकृत कम-उम्र कलाकार चारुदत्त के अनुसार—‘बेसिक आइडिया साहब का रहता है लेकिन फिर वे हमें छोड़ देते हैं। असल में वे शुरू में नाटक और

आगरा बाजार  
की  
मंच-सज्जा  
प्रस्तुति 1989  
छायाचित्र  
संगीत नाटक अकादमी

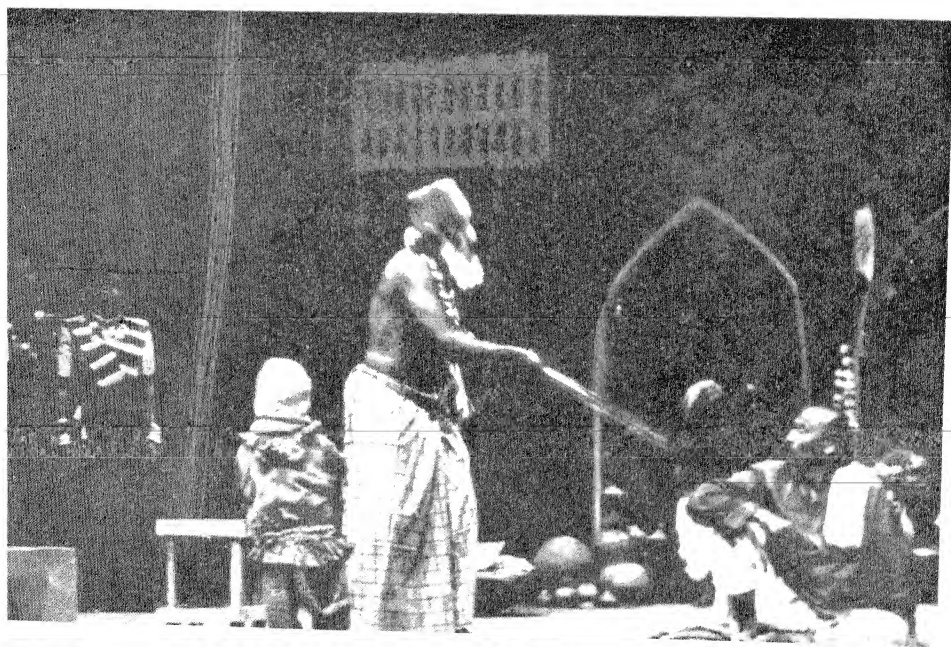




हबीब तनवीर/आगरा बाजार 1970 की प्रस्तुति

छायाचित्र : संगीत नाटक अकादमी

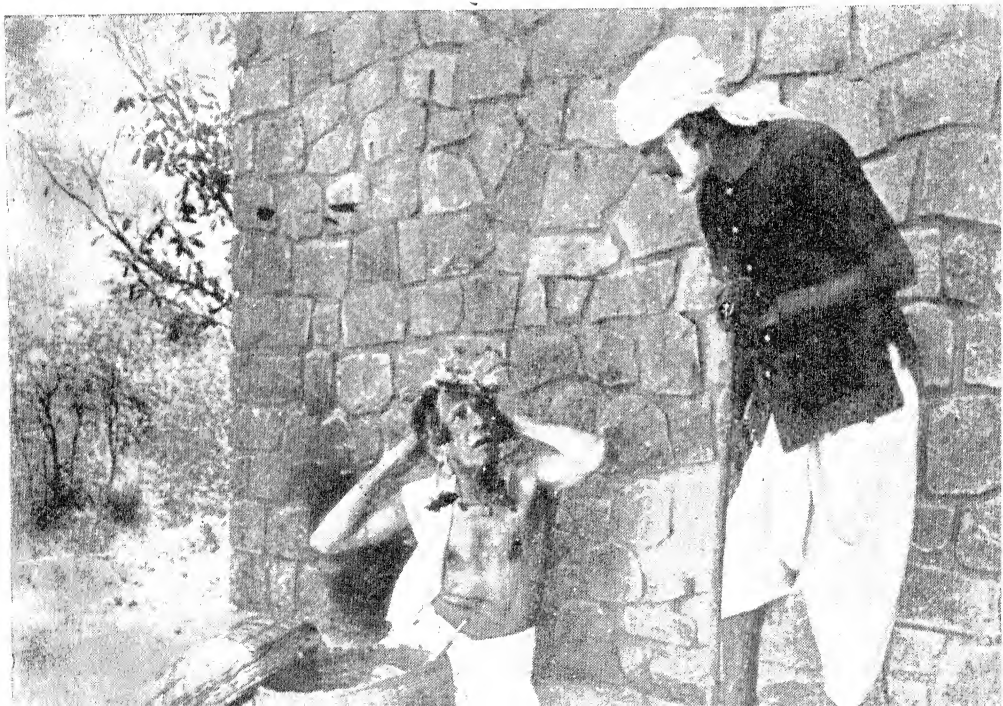
बिज्जी, लल्लूराम साहू, गोविन्दराम निरमलकर/आगरा बाजार 1989 की प्रस्तुति





मिट्टी की गाड़ी का एक दृश्य 1958

इन्डीव तनवीर/गांव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद 1973







छायाचित्र : डेविड लिडल

गोविन्दराम निरमलकर और फिदाबाई/चरनदास चोर 1975

छायाचित्र : निर्मलेन्दु चैटर्जी, कलकत्ता

हबीब तनवीर/चरनदास चोर 1975





‘चरनदास चोर’ के बाद हबीब तनवीर ने फिर एक लोककथा उठाई बहादुर कलारिन (1978)। यह कथा छत्तीसगढ़ के एक अचल सोरर मे प्रचलित थी जिसमे बहादुर नाम की कलारिन (शराब बेचनेवाली) राजा के प्रेम मे पड़ती है लेकिन राजा उसके प्रेम का प्रतिदान नहीं देता। उसका बेटा छछन इडिपस कामप्लेक्स के साथ बड़ा होता है। वह एक के बाद एक एक सौ छब्बीस औरतों से विवाह करता है मगर उन्हें छोड़ता चलता है। किसी भी औरत से न पटने का कारण छछन के मन मे अपनी मा के प्रति दबी काम वासना थी। जब वह बहादुर से अपनी इच्छा व्यक्त करता है तो वह सक्ते मे आ जाती है, बहुत क्षुब्ध होती है। पहले तो वह सारे गाँव से कहती है कि कोई छछन को पीने को एक घूट पानी भी न दे। फिर स्वयं उसे कुए मे ढकेल देती है और खुद भी उसमे कूदकर आत्महत्या कर लेती है। आधुनिक युग मे व्याख्यायित इडिपस कामप्लेक्स का इस लोककथा मे समन्वय देखकर आश्चर्य होता है। इस प्रस्तुति मे हबीब ने पथी लोक कलाकारों के साथ जनजातियों के नर्तकों को सम्मिलित करने का प्रयोग भी किया। मडला गाँव के ये गोड नर्तक पथी कलाकारों जैसे प्रभावपूर्ण नहीं रहे तथापि उन्होंने बहादुर कलारिन को प्राणवान बनाया, अधिक कलरफुल बनाया। बहादुर कलारिन को सफलता का बड़ा श्रेय नाम भूमिका मे अभिनय करनेवाली कलाकार फिदाबाई को है। उनका दबग कठस्वर, पूरी आवाज मे गला खोलकर गायन, खड़े होने की भगिमा, फुर्ती और चुस्ती सब मुग्ध करनेवाले थे। मौजमस्ती और भोगविलास को लेकर चलनेवाली कहानी अंत मे आकर दुखात बन जाती है—दुखात भी ऐसी कि सबके मन को छलनी कर दे। फिदाबाई ने बड़ी कुशलतापूर्वक इस अंश को रूपायित किया—एक औरत और एक मा या यो कहे कि एक मा को केवल एक औरत बना लेने की बेटे की इच्छा कैसे मा को तोड़ देती है, अपने जीवन से एकदम विमुख कर देती है इसका अत्यंत प्रभावपूर्ण चित्रण बहादुर कलारिन मे फिदाबाई ने किया। यद्यपि वर्षों तक वे नया थियेटर के साथ रही और उन्होंने अनेक नाटकों मे मुख्य भूमिका मे अभिनय किया तथापि मेरी दृष्टि मे बहादुर कलारिन की भूमिका मे उन्होंने दर्शकों को जो दिया, अनुभूति की गहराई का जो साक्षात्कार उन्होंने दर्शकों

को कराया वह अद्भुत था, अपूर्व था, उस अभिनय के लिए वे सदा स्मरण की जायेगी। फिदाबाई के अतिरिक्त उदयराम (राजा), बाबूदास (बहादुर का चाचा) आदि ने भी प्रभावपूर्ण अभिनय किया।

प्रस्तुति की दृष्टि से बहादुर कलारिन 'चरनदास चोर' से भिन्न थी। इसमें हबीब ने नाच का अधिक उपयोग किया, नाच के माध्यम से कहानी को आगे बढ़ाया। जैसा कि कहा जा चुका है, इस प्रस्तुति में ट्राइबल कलाकारों को भी लिया गया पर वे उतने सफल नहीं रहे तथापि प्रयोग की दृष्टि से यह एक नयी दिशा थी और उस दृष्टि से सफल थी। संगीत गगाराम मिखेत का था जिसे कोरस ने खूबसूरती से प्रस्तुत किया। नाटक में कुछ समकालीन संकेत भी थे यथा बच्चों का अतिरिक्त लाड-दुलार और उमका समाज पर पड़नेवाला कुप्रभाव लेकिन वे संकेत ठीक ही रह गये विशेष प्रभावपूर्ण नहीं बन पाये।

सन् 1980 में हबीब तनवीर द्वारा प्रस्तुत नाटक 'सोनसागर' के सम्बन्ध में इन्कट 163-164, जुलाई-अगस्त 1980 में प्रकाशित जितेन्द्र कौशल की समीक्षा समीचीन एवं सम्पूर्ण है अतः उसके हिन्दी अनुवाद को ही यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है "बहादुर कलारिन के बाद हबीब तनवीर ने छत्तीसगढ़ की लोकशैली चदैनी की काल्पनिक नायिका चदा के रूप में फिर एक सशक्त महिला चरित्र को प्रस्तुत किया। छत्तीसगढ़ की पड़वानी शैली के कथागायक के महाभारत की कथा गाने की तरह चदैनी का कथागायक भी कई रातों में अपनी कथा पूरी करता है। मुख्य कलाकार गाता है, कथा सुनाता है और नाचता है। इसके चार-पाँच साथी होते हैं जो विभिन्न वाद्य बजाते और गायन में मुख्य कलाकार को सहयोग देते हैं। पड़वानी की तरह चदैनी लोकप्रिय नहीं है क्योंकि इसमें महाभारत की कथा नहीं रहती। चदैनी की कथा लौकिक है, मौखिक है और उतनी परिचित नहीं अतः इसमें नाच, गाना और संगीत कहानी से अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

"सोनसागर प्रेमी-द्वय लोरिक और चदा की कहानी है जो छत्तीसगढ़ में चदैनी और बिहार में लोरिकायन के नाम से प्रसिद्ध है। पहला नाम नायिका

चंदा और दूसरा नायक लोरिक को महत्व देता है अतः एक ही कथा दो क्षेत्रों में दो भिन्न रूप प्राप्त करती है। चंदैनी में नायिका अधिक शक्तिशाली होकर उभरती है जबकि लोरिकायन में लोरिक के कारनामे उसे नेता के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

“हबीब तनवीर का मुख्य आधार चंदैनी था तथापि उन्होंने उसमें बहुत अधिक सम्पादन किया था। उन्होंने कहानी के ग्राम्य तत्वों को प्रमुखता दी थी, और जादू तथा अलौकिक कथाओं को छोड़ दिया था। सोनसागर गौरा के राजा मौहर की भैंस है जो सुनहले बछड़ों को जन्म देती है। एक बार वह भैंस चोरी चली जाती है और कथैत का लडका बछड़ों को छुड़ाता है। राजा मौहर बदले में कथैत और खुलना की सतान से अपनी सतान का विवाह करने का वचन देते हैं। कथैत और खुलना का एक बेटा है लोरिक और मौहर के एक बेटा चंदा। लेकिन मौहर अपना वचन भंग करके अपनी बेटा का विवाह कथैत और खुलना के एक अमीर रिश्तेदार गढ़ रेओना के राजा बौरिया के बेटे बावन के साथ करना तै करते हैं। चंदा इस विवाह को अस्वीकार करती है और जब एक शाप के कारण बावन के कोढ़ी हो जाने पर उसकी जगह लोरिक गौना कराने आता है तो वह लोरिक के साथ भाग जाने का निर्णय करती है। बावन शाप से मुक्त होकर ठीक हो जाता है और तब जगल-जगल शहर-शहर प्रेमी युगल को मार डालने के इरादे से दूढ़ता फिरता है लेकिन चंदा की लगन और लोरिक के सौतेले भाई की बहू की सहायता के फलस्वरूप दोनों बच जाते हैं और सुख से जीवन बिताते हैं।

“जटिल कथानक को हबीब ने अधिक से अधिक सीधा-सादा रूप देने की चेष्टा की। उन्होंने अपनी प्रस्तुति में चंदैनी शैली और धुनों को लिया तथापि अपने को उसमें ही सीमित नहीं रखा। इसके पहले वे पड़वानी प्रस्तुत कर चुके थे जो पुनाराम के प्रभावपूर्ण मूक अभिनय और गायन के बावजूद दर्शकों को आधा घंटा से अधिक नहीं बाध सकी थी। सोनसागर उस दृष्टि से अगला कदम था, हबीब के कलाकारों ने कहानी को अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत करने में पहले से अधिक सफलता प्राप्त की। डोली या धनुष से तीर छोड़ देने के बाद कलाकार का तीर उठाये हुए नदी और खेत पार करते हुए चले जाना जैसे छोटे-छोटे लोक क्रियाकलाप प्रभावपूर्ण रहे। इसी तरह जानवरो के साथ वाले दृश्य भी बड़े प्रभावपूर्ण थे। लेकिन पहले हिस्से में गति बहुत धीमी थी, नाटक घिसटता हुआ बढ़ रहा था। उत्तरार्द्ध में कहानी

ने गति पकड़ी, एक के बाद एक घटनाएँ होती रही और नाटक तीव्र गति से अंत की ओर अग्रसित हुआ ।

“हबीब के छत्तीसगढ़ी कलाकार अपने हर अभिनय में पूरा आनंद लेते हैं । फिदा, मालू उदय, भुलवा, कौशल्या, बृज, रवि और हरि वगैरह सभी ने फिर से सुन्दर अभिनय किया । हमेशा यही लगता है कि जैसे अभिनीत भूमिका के लिए ही वे बने हों, एकदम फिट बैठते हैं ( इनैक्ट 163-164, जुलाई-अगस्त 1980) ।”

सोनसागर के मूल मंचन के करीब दस वर्षों बाद 16 जनवरी सन् 1989 के दी इंडियन पोस्ट में नन्ही कपूर की समीक्षा भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है । नाटक 7 जनवरी '89 को बम्बई के राष्ट्रीय कला केन्द्र के टाटा थियेटर में खेला गया था । नन्ही कपूर के अनुसार—

“एक ऐसी रंगीन प्रेमकथा जिसमें साहसिक अभियान, सही मात्रा में करुणा और परीक्षा जैसा अंत हो, किसे अच्छी नहीं लगेगी, और यदि कहानी दृढकथा हो तो और उत्तम । लोकनाट्यरूप में कही गयी कहानी जिसमें जोशीले गीतों की लटक-झटक, भडकीले कपड़े और जीवन्त व्यंग्य-उपहास हो तो पापकार्ण और आलू के चिप्स खानेवाले सुधारातीत दर्शक भी सहज ही परास्त हो जाते हैं । सोनसागर एक ऐसी ही प्रस्तुति है ।

“सोनसागर चदैनी छत्तीसगढ़ की एक पुरानी मौखिक कथा का नाट्य रूपांतर है जिसे परम्परा से छत्तीसगढ़ में चदैनी, पूर्वी उत्तर प्रदेश में लोरिक और बिहार में लोरिकायन कहते हैं । एक विवाहित पुरुष लोरिक और बाल-विवाह की शिकार चदा की प्रेमकहानी चदैनी या लोरिक या लोरिकायन है ।

“कथा यद्यपि पुरानी है और जिसके प्रमाण बनारस तथा चंडीगढ़ के संग्रहालयों में सुरक्षित इस कथा पर आधारित चित्र में प्राप्त होते हैं, तथापि इसका आधुनिक महत्व भी है क्योंकि इसमें एक दूसरे के प्रति प्रतिबद्ध दो व्यक्तियों के प्रेम को सहानुभूति के साथ चित्रित किया गया है ।

“नायिका चदा के चरित्र के माध्यम से नाटक नारीवाद (feminism) की पुष्टि भी करता है । परम्परा को तोड़ने, ससुराल से भागकर अपने प्रेमी के पास जाने और उस प्रयत्न में बड़ी कुशलता और चतुराई से विघ्नबाधाओं से जूझने में चदा ही साहसिक और निर्णायक कदम उठाती है ।

“नाटक के लेखक, निर्देशक और गीतकार हबीब तनवीर ने विशाल गेय

महाकाव्य की कथा को ढाई घंटे के नाटक में समेटने का दुष्कर कार्य अत्यंत सफलतापूर्वक किया और इसमें उन्होंने शहरी तथा ग्रामीण परम्पराओं का कुशल संयोजन किया ।

“उदाहरणस्वरूप यदि वेशभूषा और इस्तेमाल में आनेवाली वस्तुएँ वास्तविक थीं (इसका श्रेय मोनिका तनवीर को है) तो पीछे के पर्दे पर झोपड़ी की दीवारें और नदी के पुश्ते (या बांध) चित्रित थे जो सर्वथा आज की नवीन अवधारणा है । जहाँ चीजे आकार में बहुत बड़ी थीं वहाँ मूक अभिनय का सहारा लिया गया उदाहरणस्वरूप तब जब अपने सनकी पति के लिए चूड़ा ढेरो खाने-पीने की चीजे ले जाते हुए लड़खड़ाती है ।

“आलोक आम तौर पर सपाट था जैसा कि गांव के प्रदर्शनो में होता है तथापि बीच-बीच में किसी रहस्यमय दृश्य के वातावरण को घनीभूत करने के लिए वह कम और अधिक किया जा रहा था जो अपने आप में एक आधुनिक नाटकीय उपाय है ।

‘एक बात समझ में नहीं आयी कि क्यों दो महिला भूमिकाओं में पुरुष अभिनेताओं ने अभिनय किया जब कि बाकी में औरते कर रही थीं । क्या ऐसा इसलिए किया गया था कि महिला कलाकारों की कमी थी या गांवों की परम्परा के अनुसार पुरुष महिला भूमिका में अभिनय कर रहे थे या ऐसा केवल इसलिए किया गया क्योंकि पुरुष अभिनेता उन चरित्रों के हास्य को अधिक अच्छी तरह उभार सकते थे ?

“नाटक लिखने में हबीब तनवीर ने दत्तकथा के कुछेक तत्वों को महत्व दिया है जैसे उनके नाटक में पशु को महत्व दिया गया है । वे समृद्धि के परिचायक हैं । असल में नाम भूमिका सोन ( सोने का ) सागर एक भैंस का नाम है जो चूड़ा द्वारा पालित पशु है जिसे चूड़ा के मा-बाप उसके ससुर को दहेज में देते हैं और जो नाटक के शीर्ष स्थल पर विरोधियों को खदेड़कर चूड़ा की सहायता करती है ।

“नाटक के गाने निश्चित रूप से ग्राम्य हैं और जिन्हें कलाकार पूरी शक्ति के साथ गला खोलकर गाते हैं । हबीब के गीतों में पर्याप्त धार है जो दर्शकों को बांधे रखती है । दुर्भाग्य से, भाषा एक समस्या थी । हिन्दी भाषा-भाषी दर्शकों को भी पूरी बात समझने में असुविधा हो रही थी ।

“लेकिन स्टेज पर पर्याप्त रंगीनी थी और निरंतर क्रियाकलाप हो रहे थे जो दर्शकों की दृष्टि से रुचिकर थे । विशेषकर बाल-विवाह का दृश्य बड़ा रोचक था जब दो बच्चे नगाड़े की थाप पर फेरे लेते हैं या फिर चूड़ा के

हमदर्द बदरुद्दीन और विरोधी गाववालो के बीच घटित होनेवाले हास्य दृश्य । चदा के खूखार पति बावन और किसान-दम्पती के बीचवाला दृश्य भी हास्यपूर्ण था जब वे बावन को इतनी शराब पिला देते हैं कि वह प्रेमियों का पीछा करने और उन्हें मारने में असमर्थ हो जाता है । वे दृश्य भी विशेष रूप से हास्यमय बने जिनमें पुरुष कलाकार महिला भूमिकाओं में अभिनय कर रहे थे । डायन की भूमिका में अपनी ऐडी-बेडी चाल और पोपले मुह से मदनलाल दर्शकों को खूब हसाते थे, हसते-हसते दर्शकों के पेट में बल पड़ जाते थे । इसी तरह बदला लेने के लिए उत्सुक बावन को पिला-पिलाकर धुत् कर देनेवाले दृश्य में भद्दी, चालबाज और दबंग किसान की बीबी की भूमिका में वृजलाल ने अद्भुत अभिनय किया ।

“दूसरी स्मरणीय भूमिकाओं में पहला उल्लेख पूनम का जो प्रेमातुर लेकिन दृढसंकल्प चदा की भूमिका में अभिनय करती है । उसकी शानदार सुरीली आवाज में मध्य प्रदेश के नीले आकाश और धूप में तपी भोपड़ियों की सुगंध बसी थी । और उल्लेखनीय है दोनों सूत्रधार और चंद्रनी नर्तक ( कथा-नर्तक रमई द्वारा अभिनीत ) जो शालीनता और ओज के साथ कहानी को आगे बढ़ाते हैं और स्वयं हबीब तनवीर जो धूर्त और चालबाज पुरोहित की भूमिका बड़ी कुशलता से सम्पन्न करते हैं ।

“भैंसों की भूमिका में अभिनय करनेवाले कलाकारों का विशेष उल्लेख आवश्यक है जो चमकती सींग, मनके की माला, घटिया और कम्बल के साथ बीच-बीच में अपने चारों पैर पर इधर से उधर स्टेज पार करते थे । उनका ऐसा करना अपेक्षाकृत नीरस दृश्यों को रोचक बना देता था ।

“कलाकारों में से अधिकांश मजे हुए हैं, बचपन से ही इस पेशे के साथ जुड़े हुए हैं । इंग्लैंड की कई महत्वपूर्ण प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रशिक्षण प्राप्त करके लौटने और भारतीय लोकनाट्य के क्षेत्र में काम करने का निर्णय करनेवाले हबीब तनवीर के साथ गठबन्धन होने के पहले तक ये कलाकार रायपुर में ग्रामीण दर्शकों के सामने वर्षों से अपनी अभिनय कला का प्रदर्शन कर रहे थे । तनवीर के साथ नया थियेटर पूरे देश और विदेश के अनेक शहरों की यात्रा कर चुका है ।

“संक्षेप में कहा जा सकता है कि सोनसागर मध्यप्रदेश के ग्रामीण और सामूहिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत करनेवाला एक रोचक और प्राणवत् नाटक है ( दी इंडियन पोस्ट, 16 जनवरी 1989 ) ।”

लोक कलाकारों के साथ काम करते हबीब को करीब पंद्रह साल हो रहे थे, अब वे केवल पकड़कर लाये गये छत्तीसगढ़ के कलाकार नहीं थे वरन् हबीब के जीवन और सोच के अभिन्न अंग हो गये थे। धीरे-धीरे हबीब छत्तीसगढ़ के ग्रामीणों और उस अचल के आदिवासियों की समस्याओं से निःकट से परिचित होने लगे और वे उन्हें आदोलित करने लगे। अब वे उन समस्याओं के केवल द्रष्टा नहीं रह गये, उसके भोक्ता बन गये। राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था सभी क्षेत्रों में हो रहे अन्याय, अविचार और भ्रष्टाचार ने उन्हें उद्वेलित किया और वे उनकी ओर सबका ध्यान आकृष्ट करने के लिए सन्नद्ध हुए। 'हिरमा की अमर कहानी' उनके इसी आंतरिक उद्वेलन और घुटन का परिणाम थी। महावीर अग्रवाल के अनुसार—“(हिरमा की अमर कहानी में) आदिवासियों के विकास के प्रश्न को, उनकी कठिनाइयों और अवरोधों के साथ पूरे तथ्यों को सामने रखते हुए नाटककार ने अपना दृष्टिकोण सामने रखा है। नाटककार आदिवासी क्षेत्रों में विकास की नीतियों में परिवर्तन का पक्षधर है। आदिवासियों को उनका सही अधिकार मिले, उन पर अपने विचार न थोपे जाये—इन बिन्दुओं को विश्वास के साथ निर्देशक ने उभारने का प्रयास किया है। स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय राजनीति में राजाओं, सामंतों, नवाबों की पकड़, उनकी महत्वाकांक्षाओं में लिपट राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक स्वार्थों के साथ अफसरी और धार्मिक जीवन की विसंगतियों को निर्ममता से उद्घाटित किया गया है। राजनेता हो या जमींदार या भ्रष्ट अधिकारी वर्ग—किस तरह ये लोग कभी न्याय और व्यवस्था के नाम पर, कभी विकास के नाम पर मानवीय मूल्यों की बलि देते हैं इसका सजीव चित्रण हिरमा की अमर कहानी में दिखलाई पड़ता है (छायानट अंक 38, पृष्ठ 62 से 63)।”

तितुरबसना के आदिवासी शासक हिरमा की कहानी और संघर्ष को आधुनिक पटभूमि में रखकर प्रस्तुत किया गया है। नाटक में आदिवासी पात्रों के साथ ही है पुलिस कमिश्नर, उनकी पत्नी, मंत्री, विधानसभा के सदस्य आदि। स्पष्ट है कि इन दोनों को एक साथ रखकर नाट्यकार-

निर्देशक (हबीब तनवीर) दोनों के अतिविरोधी और विसंगतियों को मुखर करना चाहते थे। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस सारे चित्रण में आदिवासी और ग्रामीण वर्ग सत् एव पीड़ित वर्ग का प्रतिनिधित्व करेंगे और असत् तथा शोषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करेंगे राज्याधिकारी, अफसर और धार्मिक-राजनीतिक नेता। चुस्त सवाद नाटक के कथानक को गतिमय और रोचक बनाते हैं। प्रस्तुति की शैली भी वही—नाच-गान से भरपूर। लोककलाकार ग्रामीण और आदिवासी पात्रों की भूमिकाओं का निर्वाह जितनी सफलतापूर्वक कर सके उतना आधुनिक शहरी पात्रों की नहीं। भुलवाराम, फिदाबाई, पूनमबाई, रविलाल ने क्रमशः राजा हिरमादेव सिंह गगबसी, महाराज की सहयोगिनी बैगिनबाई (विवाह के समय केवल पांच फेरे होने के कारण निर्देशक बैगिनबाई को कनसर्ट मानता है), कलेक्टर की पत्नी रेणुका और हिरमादेव के छोटे भाई बीरमदेव की भूमिका में अभिनय किया। प्रथम दो जहाँ सफल रहे वहाँ शेष दोनों का अभिनय अपेक्षाकृत अतिरजित रहा और वह दर्शकों के मन को मुग्ध नहीं कर पाया। सन् 1981 में कलकत्ता में हुई इसकी प्रस्तुति से 'आजकल' के समीक्षक शौनक लाहिडी को पर्याप्त असंतोष रहा। उनके अनुसार "नाटक हमें आत्मविस्मृत तो नहीं ही कर सका, विभोर और मग्न भी नहीं कर पाया (आजकल, 17.12.86)।" लेकिन हाँ, साधारण-सी प्रभावपूर्ण कल्पनाशील मंचसज्जा की वे तारीफ करते हैं और तारीफ करते हैं कलाकारों के गान और सामूहिक नृत्य की—"हाँ, इस नाटक में भी प्रिय छत्तीसगढ़ वाले ही आपकी रक्षा करते हैं हबीब। उनके मर्मस्पर्शी गायन और लोहे को ठकठकाकर किये जानेवाले सामूहिक नृत्य ने इस बार भी हमारे मर्म को स्पर्श किया। और अभिनय—जो वे एकदम नहीं करते—जो हबीब की स्क्रिप्ट में भी नहीं होता किन्तु जो उनकी मुट्ठी में होता है—उसने इस बार भी हमें मुग्ध किया, रससिक्त किया, बस इतना ही।" (वही)

अप्रैल 1988 में भिलाई के इण्टा के लिए हबीब तनवीर ने शकर शेष के नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' का निर्देशन किया। स्वयं उनके शब्दों में—"इसे ओपेन एयर में किया। मैंने नाटक को री-स्ट्रक्चर किया। नाटक में बैकग्राउंड में होनेवाले कुछ दृश्यों को मैंने लिखा और उन्हे स्टेज पर दिखलाया जैसे कहीं बगीचे में हुआ रेप सीन या फिर आत्म-हत्यावाला सीन। यह दुर्घटना एक पहाड़ की चोटी से हुई थी। हमने यह दृश्य एक मकान की छत से किया। पीछे रोशनी देकर—फ्लड लाइट। लोगों को बहुत दूर पर



आकृतियां दिखी जाती हुई और फिर गिरती हुई। एक दृश्य चबूतरे पर दिखलाया, नीचे का दृश्य था। यहाँ-वहाँ हर जगह दृश्य दिखलाये गये थे। नाटक में जिन घटनाओं का वर्णन किया गया था, उन्हें मैंने दिखलाया इसलिए उन वर्णनों को काट दिया क्योंकि फिर उनकी जरूरत नहीं रह गयी थी। यह नयापन 'एक और द्रोणाचार्य' में लाया गया था।''

यह हुआ नया थियेटर के लिए किये गये नाटकों का लेखाजोखा। इनके अतिरिक्त हबीब ने स्कूल-कालेजों के लिए तो बराबर नाटक तैयार करवाये पर दूसरे दलों के साथ काम कम ही किया। कारण स्पष्ट है—एक तो नया थियेटर की गतिविधियाँ ही उन्हें व्यस्त रखने को पर्याप्त रहती हैं। नाट्य-रचना, गीत-रचना, संगीत-रचना, निर्देशन एवं दल की व्यवस्था आदि नाना कामों के बाद समय ही कहाँ बचता है। एक और भी कारण लगता है और शायद वह अधिक बड़ा कारण है—वे अब जिस तरह की प्रस्तुतियाँ करते हैं, लोककलाकारों के साथ काम करके जिस कौशल और ऊर्जा के वे अभ्यस्त हो गये हैं, वह अन्यत्र किस दल में मिल सकती है? इसीलिए थियेटर में करीब 30 वर्षों तक—और वह भी दिल्ली में—काम करने के बाद सन् 1989 में जब उन्हें राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल ने एक नाटक का निर्देशन करने के लिए पहली बार आमंत्रित किया तो सभी को सुखद आश्चर्य हुआ। पत्रकारों के इस प्रश्न के उत्तर में कि नाट्य विद्यालय ने अभी तक आपको निर्देशन के लिए क्यों नहीं आमंत्रित किया था, हबीब का छोटा-सा उत्तर था—उनसे पूछिए। शायद लोग डरते थे कि उनकी अपेक्षाओं को वे पूरी नहीं कर पायेंगे। अस्तु,

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल द्वारा प्रस्तुत किया जानेवाला नाटक था 'दुश्मन'। सन् 1906 में मैक्सिम गोर्की द्वारा लिखित 'दी एनेमीज' का भारतीय रूपांतर किया था सफदर हाशमी ने। सफदर ने यह रूपांतर नौवें दशक के प्रारंभ में किया था और जो उनकी मृत्यु के बाद उनके कागजों में मिला। रचना के बाद रूस में नाटक पर प्रतिबंध लगा दिया गया था, गिरफ्तारी से बचने के लिए गोर्की रूस से बाहर चले गये थे और लौटे करीब पच्चीस वर्षों बाद सन् 1931 में यद्यपि इस बीच रूस में सन् 1917 की क्रांति हो चुकी थी और वे लेनिन के सम्पर्क में थे। 'दी एनेमीज' में न केवल मजदूर

और मालिक के बीच के सपर्ध को चित्रित किया गया है वरन् स्वयं मालिको के बीच दिखलाई पड़नेवाले मत-मतान्तरों को भी उभारा गया है। करीब अस्सी-पचासी वर्ष पूर्व लिखा नाटक आज भी प्रासंगिक लगता है, हमारे देश का पूरा माहौल उसमें फिट बैठता है और यह तथ्य नाटक की महानता को रेखांकित करता है जो समय और स्थान की सीमा का अतिक्रमण करके सर्वदेशीय, सर्वकालीय सृजा का अधिकारी बनता है। गोर्की के इस कथ्य को कि “मालिक चाहे कठोर हो या नम्र सुधारवादी, परिणाम एक ही होगा। दोनों ही मजदूरों के अधिकारों को दबाना चाहेंगे। चूँकि मजदूर और मालिकों के स्वार्थ भिन्न-भिन्न हैं अतः वे कभी एक नहीं हो सकते”—सफदर हाशमी ने रूपांतर में बड़ी खूबसूरती से समाहित किया है। नाटक के कथ्य और घटनाओं को भारतीय परिवेश में ढालते समय सफदर मूल नाटक के निकट बने रहे, भारतीय स्थितियों और घटनाओं के माध्यम से उन्होंने मूल नाटक की आत्मा को प्रस्तुत किया। निर्देशक हबीब तनवीर ने आलेख में विशेष परिवर्तन नहीं किये सिवाय इसके कि उन्होंने उसमें पांच गीत जोड़े। स्वरचित गीतों को उन्होंने रवीन्द्र संगीत, नजरूल गीति और रूस की अम्टूबर क्रांति के गीत के स्वरों पर गवाया। तथापि मूल आलेख अपने आप में बरकरार रहा।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रगमडल के प्रशिक्षित कलाकारों और नया थियेटर के छत्तीसगढ़ी कलाकारों को एक साथ मंच पर उतारकर हबीब तनवीर ने एक महत्वपूर्ण कार्य किया। वैसे इस नाटक में दोनों कलाकारों का समन्वय आसान था, शङ्करी भूमिकाओं में अभिनय किया रगमडल के कलाकारों ने और मजदूरों तथा कोरस के रूप में अभिनय किया छत्तीसगढ़ी कलाकारों ने। प्रस्तुति में मंच-सज्जा सामान्य थी, सारा क्रियाकलाप कुवर अजीतपाल सिंह के घर में घटित होता है, केवल अंत में कचहरी के दृश्य में दृश्य परिवर्तन होता है। आलोक वर्गैरह के विशेष उपयोग का भी प्रयत्न निर्देशक ने नहीं किया। हाँ, संगीत का उपयोग उसने अवश्य किया। गीत न तो गोर्की के आलेख में थे और न सफदर के रूपान्तर में लेकिन हबीब ने पांच गीत लिखकर नाटक में जोड़े और उन्हें कोरस के रूप में गवाया। सभ्यता नाच-गाने के प्रति विशेष लगाव होने के कारण ही उन्होंने ऐसा किया क्योंकि ये कोरस वही कह रहे थे जो कहा जा चुका था या कहा जानेवाला था। ये किसी भी तरह नाटक की कथा या स्थिति को आगे नहीं बढ़ा रहे थे। इंदरजीत शर्मा के अनुसार “वे नाटक की गति में रुकावट उत्पन्न कर रहे थे।

नाटक ब्रेख्त शैली में लिखा गया होता तो बात अलग थी लेकिन वैसा न होने के कारण कोरस नाटक की गति और लय को तोड़ रहे थे ( दी टाइम्स ऑफ इंडिया, 7 7 89 के डायलॉग कालम के अंतर्गत प्रकाशित पत्र ) ।”

आम तौर पर अभिनय की प्रशंसा सबने की । मिल मालिक के रूप में विजय शुक्ल और जैन के रूप में सुरेन्द्र प्रसाद ने विशेष रूप से प्रभावित किया । कोरस गायको में पूनम, माला, वृजलाल और भुलवाराम आदि ने नाटक को रसमय बनाया । दुश्मन की यह प्रस्तुति निश्चित रूप से रंगमंडल की श्रेष्ठ प्रस्तुतियों में से एक मानी गयी । साथ ही यह भी कहा गया कि राजनीतिक नाटक करने की रंगमंडल की यह पहल महत्वपूर्ण है और इसका स्वागत किया जाना चाहिए । समाचार पत्रों में इस प्रस्तुति की पर्याप्त चर्चा हुई जैसे शहीद अनवर के अनुसार सफ़दर सभवात इसे नुक्रुड नाटक का रूप देना चाहते थे इसलिए उन्होंने दृश्य विधान बहुत सीधा-सादा रखा था । नाटक की सीधी अपील भी सभवतः उसी कारण होती है ।

असगर वजाहत के नाटक ‘जिन लाहौर नहीं देखा वो जन्माई नहीं’ को हबीब ने सन् 1990 में श्रीराम सेटर रेपरटरी के लिए तैयार किया । भारत-पाकिस्तान विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई स्थिति की पृष्ठभूमि में लिखा यह नाटक बड़ा मार्मिक है । राजनीतिक और धार्मिक नेताओं द्वारा जबरदस्ती भडकायी गयी साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम का बड़ा करुण चित्रण इसमें किया गया है । इसमें भी हबीब ने अपनी ओर से पाँच गीत जोड़े जो कोरस के रूप में गाये गये । इन गजलों और नज्मों के रचनाकार थे फिराक गोरखपुरी, अमृता प्रीतम, राही मासूम रजा और पाकिस्तान के मशहूर शायर नाजिर काजिमी । मुझे इसका प्रथम प्रदर्शन देखने का अवसर प्राप्त हुआ । अत्यंत सहज-सरल ढंग से नाटक की कथा आगे बढ़ती है । हबीब ने प्रस्तुति पर जबरदस्ती कुछ भी लादा नहीं था, मानवीय स्तर पर घटनाओं का चित्रण और पात्रों की मन स्थितियों का उद्घाटन करते गये थे । आज की परिस्थिति में भी नाटक बहुत मौजू है ।

हबीब तनवीर के रंगकर्म के सिलसिलेवार ब्योरे को यहाँ विराम दिया जा रहा है । उनकी अगली प्रस्तुति ‘देख रहे हैं नयन’ की चर्चा फिर कभी ।

हबीब तनवीर के नाटको के उपर्युक्त विवरणों के माध्यम से उनके व्यक्तित्व के तीन रूप सामने आते हैं—अभिनेता, निर्देशक और लेखक। यद्यपि हबीब तनवीर बीच-बीच में अभिनय करते रहते हैं और अनेक बार उन्होंने अच्छा अभिनय भी किया है तथापि वे मूलतः निर्देशक हैं, पिछले पंद्रह-बीस वर्षों में रंग-निर्देशक के रूप में ही उनका व्यक्तित्व अधिक उभरा है और हिन्दी नाट्य जगत को उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन इसी क्षेत्र में रही है। संभवतः हबीब एकमात्र निर्देशक हैं जिनकी प्रस्तुतियों में विषयवस्तु, प्रस्तुति शैली एवं भाषाओं के प्रयोग की ऐसी विविधता मिलती है। यह अन्यत्र दुर्लभ है। इनका कार्य-फलक अत्यंत विस्तृत एवं व्यापक रहा है। अपने प्रायः पचास वर्षों के नाट्यजीवन में हबीब ने अनेक नये क्षेत्रों में प्रयोग किये हैं, अपने प्रयोगों की सफलता-असफलता के प्रति सजग रहे हैं, शहरी और ग्रामीण नाट्य प्रवृत्तियों के बीच सेतु बनाने की दिशा में सचेष्ट रहे हैं, अपनी मान्यताओं के रूपायन के आग्रही रहे हैं आज सत्तर वर्ष की उम्र में भी पूरी लगन के साथ काम में जुटे हुए हैं।

विषयवस्तु की दृष्टि से हबीब ने एक विस्तृत फलक पर काम किया है। एक ओर स्ट्रीट-प्ले और पोस्टर प्ले हैं जिनका सम्बन्ध सामयिक मुद्दों से है और जिनका जीवनकाल उठाये गये मुद्दों के महत्व और जीवनकाल पर निर्भर करता है तो दूसरी ओर सस्कृत के गौरवमय नाटक उत्तररामचरित (भवभूति), उरुभगम्-दूतवाक्यम्-पचरात्रम् (भास), मृच्छकटिकम् (शूद्रक) तथा मुद्राराक्षस (विशाखदत्त) हैं जो अपनी रचना के बारह-पंद्रह सौ वर्षों बाद तक जीवित हैं और आज भी सामयिक महत्व के लगते हैं। अन्य भारतीय नाट्यकारों में उन्होंने बीसवीं सदी के नाट्यकार आगा हश्म काश्मीरी शकर शेष और असगर वजाहत के नाटकों का निर्देशन किया जिनके कथानक ऐतिहासिक और पौराणिक थे तथापि जो समसामयिक समस्याओं से जुड़े थे विशेषकर अंतिम दो। इनके साथ ही उन्होंने निर्देशन किया है शेक्सपियर, मॉलियर, ब्रेस्ट, गोगोल, गोल्डनी, लोर्का, आस्कर वाइल्ड, गोंकी जैसे प्रख्यात विदेशी नाट्यकारों के नाटकों का जो गत चार सौ वर्षों की अवधि में विश्व के

विभिन्न अचलो मे विभिन्न भाषाओ मे लिखे गये और समय-स्थान की सीमा का अतिक्रमण कर जो आज भी हमे जीवन के नाना रूपो-रंगो का साक्षात्कार कराते है । विश्व की कई भाषाओ की मार्मिक कहानियो का रूपांतर करके उन्होने मचन किया है । और इन सबसे ऊपर उन्होने चुना अपने देश की लोककथाओ को जिनको मूल मे रखकर उन्होने रोचक ताने-बाने बुने और सार्थक, प्रभावपूर्ण तथा विविधतामय प्रस्तुतिया हमारे सामने रखी जिन्हे हम टोटल थियेटर का अच्छा दृष्टांत कह सकते है । हबीब की प्रस्तुतियो मे विशिष्ट महत्व है 'आगरा बाजार' और 'मेरे बाद का' । क्रमश नजीर अकबराबादी और गालिब की कविताओ और जीवन से सम्बन्धित ये दोनो प्रस्तुतिया अपना अलग स्थान और महत्व रखती है क्योंकि इनका सम्बन्ध न केवल उन्नीसवी-बीसवी सदी के दो प्रख्यात शायरो से है वरन् स्वयं शायर हबीब के काव्यप्रेम से भी है जिससे प्रेरित हो उन्होने ये नाटक लिखे और इन्हे प्रस्तुत किया ।

अब निर्देशक हबीब तनवीर के कार्यों का मूल्यांकन थोड़े विस्तार से ।

किसी भी नाट्यप्रस्तुति के तीन आवश्यक तत्व होते है—नाट्यालेख, निर्देशक-अभिनेता एवं दर्शक । नाट्यालेख वह पहला तत्व है जो किसी भी प्रस्तुति के लिए अनिवार्य होता है वह चाहे पूर्णांग हो या एकाकी, पौराणिक हो या ऐतिहासिक या समकालीन, सवाद-बहुल हो या रेडियो नाटक, नागर नाटक हो या लोक नाटक, भले ही वह शब्दविहीन ही क्यों न हो पर उसका होना अनिवार्य है, उसके अभाव मे निर्देशक-अभिनेता-अन्यान्य सहायक-दर्शक किसी का कोई स्थान ही नहीं रह जाता । नाट्यालेख का चुनाव आम तौर पर निर्देशक और प्रस्तुत करनेवाले दल की रुचि और प्रतिबद्धताओ का इंगित करता है । निर्देशक हबीब तनवीर द्वारा चुने गये नाटक उनके एकाधिक लगावो का इंगित देते है साथ ही वे उनकी प्रस्तुति-शैली भी निर्धारित करते है । सबसे पहले ले स्ट्रीट प्ले को क्योंकि हबीब के नाट्यजीवन का प्रारम्भ स्ट्रीट प्ले ( जो पोस्टर प्ले या नुक्कड़ नाटक के नाम से भी जाने जाते है ) मे अभिनय और उनके मचन से हुआ । इतना ही नहीं उन्होने स्ट्रीट प्ले लिखे भी । सन् 1948 मे खेला गया 'शांतिदूत कामगार' उनके द्वारा लिखित और निर्देशित पहला स्ट्रीट प्ले था जो परेल मे मिल के गेट पर खेला जाता था । आधे घंटे का यह आलेख मजदूरो से सम्बन्धित था, उनकी विशेष मांग से ।

माग पूरी हुई, नाटक की उपादेयता समाप्त हो गयी। इस समय या इसके आसपास और भी स्ट्रीट प्ले हुए जिनके साथ हबीब जुड़े थे। इसके बाद एक लंबे अरसे तक वे दूसरे तरह के नाटक करते रहे। स्ट्रीट प्ले का दूसरा दौर बाइस तेइस वर्षों बाद प्रारंभ हुआ जो करीब 15 वर्षों तक चला जिसके अंतर्गत हबीब ने इन्द्र लोकसभा (1971), कुशितया का चपरासी (1971), जमादारिन, झूठी माया, देवी का वरदान (1981), मगलू दीदी (1986), किसका पुत्र (1986) आदि नाटक खेले। ये सभी स्ट्रीट प्ले हबीब द्वारा लिखे गये थे और चुनाव, परिवार-नियोजन, मा और बच्चे के स्वास्थ्य आदि विषयों से सम्बन्धित थे। ये सभी नाटक बीस से चालीस मिनट की अवधि के थे, हास्य-व्यंग्य से भरपूर थे और प्रचार की दृष्टि से लिखे और खेले गये थे। 'इन्द्र लोकसभा' का मंचन ट्रक पर किया जाता था। उसी ट्रक पर कलाकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते थे, बीस मिनट में ट्रक को स्टेज में रूपांतरित कर लेते थे और चालीस मिनट का नाटक खेलकर आगे बढ़ जाते थे। चुनाव-प्रचार की दृष्टि से लिखा गया यह नाटक खूब लोकप्रिय हुआ था। इसी तरह मा और बच्चे के स्वास्थ्य से सम्बन्धित नाटक 'मगलू दीदी' भी खूब लोकप्रिय हुआ था। एक पुरुष के गर्भधारण करने की हास्यकर स्थिति ने विषय को बड़े रोचक ढंग से पेश करने को प्रेरित किया था। स्ट्रीट प्ले की प्रस्तुति का स्वरूप बहुत कुछ तै रहता है। बीस से चालीस मिनट के समय में बिना किसी साधन और तामझाम के, कम से कम तैयारी में नाटक प्रस्तुत करना होता है। स्ट्रीट प्ले प्रस्तुत करनेवालों को नाना तरह की समस्याओं का सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ता है। पुलिस धर-पकड़ कर सकती है, दूसरे पक्षवाले हंगामा खड़ा कर सकते हैं, आधी-तूफान आ सकता है। परिस्थिति को देखते हुए नये मवाद भी जोड़ने पड़ सकते हैं, जनता को नियंत्रण में भी रखना पड़ सकता है। हबीब ने बड़ी कुशलतापूर्वक यह काम किया। हा, एक बात स्पष्ट है। बम्बई में खेले गये उनके पहले दौर के स्ट्रीट प्ले इटा (इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसियेशन) के तत्वावधान में खेले गये थे और निश्चित रूप से एक प्रकार की राजनीतिक प्रतिबद्धता से प्रेरित थे जबकि दूसरे दौर के नाटक सरकार या दूसरी प्रचार करनेवाली एजेंसियों द्वारा प्रेरित थे और उनके पीछे विशुद्ध प्रचार की भावना थी, किसी प्रतिबद्धता की नहीं। संभवतः दिल्ली आने के बाद हबीब ने जो भी नाटक किये वे उनके बम्बई प्रवास के दौरान खेले गये नाटकों से बहुत भिन्न थे—विषयवस्तु और राजनीतिक प्रतिबद्धता सभी दृष्टियों से।

नाट्यनिर्देशन का प्रारंभ हबीब ने स्ट्रीट प्ले से किया पर जैसा कि हम देख चुके हैं, वे उसी से बंधकर नहीं रहे। सन् 1948 में ही बम्बई में उन्होंने प्रेमचन्द की कहानी शतरंज के खिलाड़ी पर आधारित नाटक तैयार किया 'शतरंज के मोहरे'। पूर्ण नाटक के रूप में लेखन-निर्देशन उनका था, प्रस्तुति इष्टा की। नाटक बम्बई और हैदराबाद में खेला गया पहले दौर में। दीना पाठक कलाकारों के दल में शामिल थी। सन् 1954 और 1960 में इसे दिल्ली में दो बार और प्रस्तुत किया हबीब ने। पहली प्रस्तुति जामिया मिलिया के लिए थी और दूसरी नया थियेटर के लिए जिसमें सुषमा सेठ ने अभिनय किया था। सन् 1954 में जामिया मिलिया के अध्यापकों, विद्यार्थियों और ओखला गाँव के लोगों को एक साथ जुटाकर की जानेवाली 'आगरा बाजार' की प्रस्तुति अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण थी। इसकी चर्चा विस्तार से पहले की जा चुकी है। आगरा बाजार की करीब एक घंटे की मूल प्रस्तुति धीरे-धीरे करके पूर्ण नाटक में रूपांतरित हुई। इस प्रस्तुति ने हबीब को आम जनता से जोड़ा, दर्शकों को दर्शक-दीर्घा से उठाकर मंच के बीच स्थापित किया। कालांतर में लोक-कलाकारों को साथ लेकर काम करने की यह शुरुआत थी। मूल प्रस्तुति के बाद सन् 1970, 1977 और 1989 में उन्होंने आगरा बाजार को तीन बार और प्रस्तुत किया, हर प्रस्तुति का अपना महत्व था। 1970 में छत्तीसगढ़ी कलाकार नया थियेटर का अभिन्न अंग बन गये, नया थियेटर इसी प्रस्तुति से व्यावसायिक दल बना। 1977 की प्रस्तुति में देश के श्रेष्ठ कलाकारों ने भाग लिया और 1689 की प्रस्तुति नेहरू शताब्दी समारोह का अंग थी। मुझे इसकी 1970 और 1989 की प्रस्तुतियों को देखने का अवसर मिला। पहली बार देखा होगा आज से पंद्रह-बीस साल पहले। पूरी प्रस्तुति बड़ी मोहक लगी थी। पर्दा खुलने पर आगरा के एक बाजार का दृश्य—सामने छोटी-छोटी दुकानें चूड़ियों और मिट्टी के बर्तनों की। बायीं ओर किताबों की दुकान, दाहिनी ओर गुड़ियों की। उनके साथ ही बाजार को घेरकर बैठे खोमचेवाले—ककड़ी, तरबूज, चनाचूर वगैरह बेचनेवाले। और इन सबके बीच आकर खेल दिखानेवाले मदारी और बदरवाला। दुकानों के ऊपर एक तल्ले पर सजा बाईंजी का कोठा जहाँ गाने की महफिल जमती है। अद्भुत समा बधा था। आपस की नोक-झोंक, तुक्का-फजोहत और शायरी सारे माहौल को अद्भुत सजीवता प्रदान करती थी। गायक मंडली द्वारा गायन कथा को आगे भी बढ़ाता था और चारों ओर के माहौल पर कमेंट भी करता था। नाटक की यह जीवतता उत्तरार्द्ध में शिथिल पड़ गई,

नजीर अकबराबादी की नज्मो ने वातावरण को गंभीर और वजनी बना दिया, उसकी सहज जीवतता समाप्त कर दी। साफ समझ में आता है कि जामिया मिलिया के लिए हबीब ने इसे किया था तब मूलतः उनका उद्देश्य आगरा के बाजार का एक सजीव चित्र प्रस्तुत करना था। बाद में जब उसे पूर्णग नाटक का रूप दिया तब नाच-गाना भी जोड़ना पड़ा और कविताये भी। फलस्वरूप नाटक दुर्बल हो गया। यह सही है कि पहली बार देखनेवालों को यह प्रस्तुति मुग्ध करती है तथापि हबीब स्वीकार करते हैं कि अब इसमें वह जान नहीं जो पहले थी। नेहरू शताब्दी समारोह में उन्होंने आगरा बाजार को फिर से करने का निर्णय क्यों लिया इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा कि मेरी इच्छा नहीं थी कि इसे फिर से करूँ पर आयोजकों के आग्रह के कारण करना पड़ा। एक और बात है। चालीस साल पहले मंच पर इस तरह बाजार का दृश्य प्रस्तुत करना नई बात थी, उसने सबको मुग्ध किया था। अब उसमें कोई नयापन नहीं। कथानक और शिल्प की दृष्टि से आगरा बाजार शिथिल है ही इसलिए इसकी प्रस्तुति अब वैसा प्रभाव नहीं छोड़ती जैसा छोटे-सातवे दशक में छोड़ती थी।

किसी शायर की नज्मो पर आधारित नाटकों की परम्परा में 'मेरे बाद' का स्थान दूसरा है जिसे हबीब ने सन् 1968 में नया थियेटर के तत्वावधान में किया। 'मेरे बाद' सभवतः हबीब की सबसे नाकामयाब प्रस्तुति थी जिसकी कोई कल ठीक नहीं थी—न विषय के प्रतिपादन की दृष्टि से न प्रस्तुति की दृष्टि से। तीन-साढ़े तीन घंटे तक चलनेवाला यह नाटक जिसमें हबीब अधिकांश समय हाथ में नाट्यालेख लिये अभिनय करते रहे, उनके जीवन का एक अच्छा सबक रहा कि हडबडी में, प्रेशर में कोई काम मत करो। ट्रैजिक गालिब को प्रस्तुत करने का अभिनव प्रयोग, गजलों के बिना तरन्नुम पाठ, बेहतरीन उर्दू जुबान के इस्तेमाल के बावजूद प्रस्तुति पलाप थी, दुबारा इसे करने की इच्छा दिल में सजोये रखने के बावजूद, वे इसे फिर से उठाने का साहस नहीं करते। इस नाटक के लेखन और मंचन का विस्तृत व्योरा स्वयं हबीब तनवीर के मुह से सुनकर लगा कि बहुत बार उनके अदर का शायर उन पर हावी हो जाता है और दूसरे शायरों की रचनाओं का मोह उन्हें ऐसा जकड़ लेता है कि वे उसमें बह जाते हैं, प्रस्तुति के साथ युक्त रहते हुए भी अपने आपको अलग रखकर एक नाट्यकार और निर्देशक के रूप में सृजन नहीं करने देता अन्यथा क्यों 'मेरे बाद' के आलेख को खेलने में तीन-साढ़े तीन घंटे लगे और सारी प्रस्तुति



बिखर गई, कोई छाप नहीं छोड़ पाई। एक अत्यंत प्रिय शायर को मंच पर सफलतापूर्वक न प्रस्तुत कर पाने की कसक आज भी उनके मन में है वैसे ही जैसे अमृतलाल नागर के उपन्यास सुहाग के नूपुर को मंच पर सफलतापूर्वक प्रस्तुत न कर पाने की पीड़ा मेरे मन में है—उस प्रस्तुति का भी सब कुछ ढीला-ढाला था, सब कुछ करने की ईमानदार चेष्टा के बावजूद नाटक फलाप रहा—पूरी तरह से।

हबीब तनवीर ने संस्कृत के जिन तीन नाटकों को प्रस्तुत किया वे हैं—शूद्रक का मृच्छकटिक (मिट्टी की गाड़ी, 1958) भवभूति का उत्तररामचरित (1975) और भास के तीन नाटक पञ्चरात्रम्, दूतवाक्यम् और उरुभगम् को मिलाकर एकसाथ भासत्रयी (1978)। संस्कृत नाटकों ने हबीब को शुरू से ही आकृष्ट किया क्योंकि संस्कृत नाटकों की नाट्यधर्मी शैली और लोक-नाट्य शैली में उन्हें अद्भुत समानता दिखलाई दी। उनकी यह मान्यता है कि लोकनाट्य ही एक ओर रूढ़ होकर संस्कृत नाट्य के रूप में विकसित हुआ और दूसरी ओर अपने सहज स्वाभाविक रूप में लोकनाट्य के रूप में प्रवहमान रहा और आज भी संस्कृत नाटकों के मंचन की समस्या का समाधान लोकनाट्य-रूढ़ियों के माध्यम से सहज ही हो सकता है। 'मिट्टी की गाड़ी' उनकी पहली महत्वपूर्ण प्रस्तुति थी, हिन्दुस्तानी थियेटर के लिए की जानेवाली उनकी पहली एव अंतिम। इसकी विस्तृत चर्चा प्रारंभ में की जा चुकी है, करीब पैंतीस वर्षों से रुक-रुककर चली आ रही इस प्रस्तुति के पक्ष एवं विपक्ष में अनेक मत व्यक्त किये जाते रहे हैं। हबीब का यह कहना बहुत दूर तक सही है कि 'मिट्टी की गाड़ी' समाज के केवल उच्चवर्ग से सम्बन्धित नाटक नहीं है और इसमें मध्यवर्ग एवं निम्नवर्ग के पात्रों एवं उनसे सम्बन्धित घटनाओं को जितना महत्व दिया गया है वह इसे जनसाधारण का नाटक बनाता है और इस कारण इसके लिए लोकनाट्य शैली एवं लोकभाषा का इस्तेमाल अधिक सगत है। हबीब की इस मान्यता में सत्य अवश्य है पर आशिक। संस्कृत नाट्यकारों ने ही समाज के उच्चवर्ग तथा ब्राह्मण एवं पढ़े-लिखे लोगों द्वारा संस्कृत और स्त्रियों एवं निम्नवर्ग के पात्रों द्वारा प्राकृत का प्रयोग करवाया है। हर समाज में भाषा का इस्तेमाल सामाजिक स्थिति एवं आभिजात्य से जुड़ा होता है और 'मिट्टी की गाड़ी' में संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं का इस्तेमाल नाटक में विभिन्न वर्गों के लोगों की स्थिति को पुष्ट करता है। मूल प्रदर्शन हिन्दी में हुआ था, परवर्ती प्रस्तुतियों में

छत्तीसगढ़ी भाषा, छत्तीसगढ़ी कलाकार एव लोकनाट्य शैली की रुढ़ियो ने जहाँ 'मिट्टी की गाड़ी' को एक तरह की जीवन्तता और ऊर्जा प्रदान की वही मेरी दृष्टि में उसने समाज के विभिन्न वर्गों की स्थिति और आभिजात्य तथा सामान्य के अंतर को सपाट बना दिया, प्रेम का कवित्व कही खो गया। लंबे अंतराल के बाद सन् 1975 में उन्होंने भवभूति का उत्तररामचरित और सन् 1978 में भास के तीन नाटक पंचरात्रम्, दूतवाक्यम् और उरुभगम् को एक साथ मिलाकर 'भास-त्रयी' प्रस्तुत की। मुझे पता नहीं इन नाटकों को प्रस्तुत करने के पीछे हबीब का उद्देश्य क्या था। उत्तररामचरित में डासर कुमकुम माधुर (अब दास) सीता, कमल अजीम गंगा और आशीष विद्यार्थी लव की भूमिकाओं में थे। स्वयं हबीब के शब्दों में—'ए बियर्डेड रामचंद्र, ए बिट आफ ए कैड।' भास के तीनों नाटकों को मिलाकर उन्होंने पडवानी शैली में प्रस्तुत किया। सुप्रसिद्ध गायक-अभिनेता पूनाराम कोरस के रूप में थे। इसमें दुर्योधन गांधी टोपी लगाकर आये थे। चूँकि 'मिट्टी की गाड़ी' के अतिरिक्त अन्य प्रस्तुतियों को देखने का मुझे अवसर नहीं मिला इसलिए यह कहना कठिन है कि उत्तररामचरित में रामचंद्र को दडियल तथा गवार (और शायद नीच भी) दिखाकर उन्होंने क्या उपलब्ध किया या करवाया। मेरी दृष्टि में रामकथा में परवर्ती काल में प्रक्षिप्त लव-कुश प्रसंग को लेकर उसमें राम को बहुत छोटा बनाकर हम उस चरित्र के प्रति अन्याय करते हैं। इसी प्रकार भास की नाटकत्रयी में दुर्योधन को गांधी टोपी में लाकर हबीब उस सारी कथा को कहा तक समसामयिक बना पाये होंगे, कहना कठिन है। पर कुछ भी हो, यह तो स्वीकार करना ही होगा कि हबीब एकमात्र ऐसे निर्देशक हैं जिन्होंने संस्कृत नाटकों की प्रस्तुतियों को अजायबघर में रखने लायक प्रस्तुतियाँ बनाने के बदले उन्हें अपने युग और समाज के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया, उनके मर्म को आम जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया और संस्कृत क्लासिकल नाट्य परम्परा तथा लोकनाट्य के बीच दृष्टिगोचर होनेवाली समानता को उजागर कर उनके बीच की दूरी पाटने का सार्थक प्रयत्न किया। उनके इस अवदान का विशेष महत्व है और हम सब इसके लिए उनके ऋणी रहेंगे।

हबीब द्वारा निर्देशित नाटकों में बड़ी संख्या उन छोट-बड़े नाटकों की है जो किसी देशी-विदेशी कहानी या लोककथा पर आधारित हैं। इनके अतर्गत आते हैं शतरंज के मोहरे (1948, प्रेमचंद), जालीदार पर्दे (1952, रूसी कहानी), सात पैसे (1959, चेक कहानी), अर्जुन का सारथी और गांव का नाम

ससुराल मोर नाम दमाद ( 1970 और 1972, छत्तीसगढी कथाएं ), ठाकुर प्रिथिपाल सिंह तथा चरनदास चोर (1974 और 1975, राजस्थानी लोक-कथाएं), शाही लकडहारा तथा जानी चोर (1976, हरियाणा), बहादुर कलारिन (1978, छत्तीसगढ के सोरर क्षेत्र की लोककथा), सोनसागर (1980, छत्तीसगढ की चदैनी और बिहार की लोरिकायन लोककथा) एव हिरमा की अमर कहानी (1985, आदिवासी कथा) । इनमे से प्रथम तीन सुप्रसिद्ध कहानीकारों की कहानियों पर आधारित है जब कि शेष बिहार, मध्यप्रदेश एव राजस्थान की लोककथाओं या जनजीवन पर आधारित । अपनी प्रस्तुतियों के लिए कथानकों के चुनाव में हबीब की यह दृष्टि उनके आम लोगों के जीवन और समस्याओं के प्रति गहरे लगाव को व्यक्त करती है । वैसे हबीब की मान्यता है कि अपनी समस्याओं का अनुभव, उनका चित्रण तथा उनका समाधान वही कर सकता है, जिसकी समस्या हो । बाहरवाला व्यक्ति न तो उन समस्याओं की पेचीदगी को समझ सकता है और न ही उनका समुचित समाधान कर सकता है । वे यह भी मानते हैं कि कलाकार क्रांति नहीं ला सकता पर वह क्रांति के लिए रास्ता अवश्य तैयार कर सकता है इसीलिए वे केवल मुद्दों को उठाते हैं, उनका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं करते ।

हा, तो बात हो रही थी निर्देशक हबीब की । सन् 1960 तक आते-आते हबीब पूरी तरह लोक-रंग में रंग गये थे । छत्तीसगढी कलाकार नया थियेटर में आ चुके थे, मध्यप्रदेश की पडवानी शैली और नाचा नृत्य हबीब को अपनी ओर खींच रहे थे । जहां तक नया थियेटर के तत्वावधान में नाटक करने का प्रश्न था, हबीब की दिशा तै हो गयी—उनकी प्रस्तुतिया मुख्यतः छत्तीसगढी भाषा में छत्तीसगढी कलाकारों को लेकर होगी । इस स्थिति ने उनके नाटकों के कथानकों के चुनाव, उनकी भाषा और प्रस्तुति के स्वरूप को बाध दिया । उपर्युक्त सारी प्रस्तुतिया इसका प्रमाण हैं । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह स्थिति उनकी शक्ति भी बनी और सीमा भी । लोक कलाकार नाचने-गाने में माहिर थे, शारीरिक अभिनय और हाजिर-जवाबी में कुशल थे फलस्वरूप ये प्रस्तुतिया खूब जीवन्त हुईं । कथानक लोककथाओं से लिया गया था अतः उनका सम्प्रेषण बहुत सहज हो गया । पर लोककथा, लोकभाषा और लोककलाकार उनकी सीमा भी बने । उनके नाटकों की समस्याओं का क्षेत्र सीमित हो गया, आधुनिक जटिल समस्याएं अछूती रह गयीं, हर प्रस्तुति में नाच-गाने का समावेश आवश्यक हो गया, इस लोभ से मुक्त हो पाना कठिन

हो गया। अभिनय में ओज और ऊर्जा का समावेश तो हुआ पर लालित्य और कवित्व से वह वंचित हो गया। हबीब की अधिकांश प्रस्तुतियों की विस्तृत विवेचना पहले की जा चुकी है। इन्हें समग्र रूप में एक साथ देखने से हबीब में हुए विकास की रेखा स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। 'गाव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद' उनके द्वारा निर्देशित नाटको में आया पहला महत्वपूर्ण मोड़ है। चालीस-पचास मिनट के इस नाटक की प्रस्तुति का स्वरूप लोकनाट्य के अधिक निकट था। कथानक सामान्य ग्रामीण जन-जीवन में सम्बन्धित था और प्रस्तुति में भी कलाकारों को लोककलाकारों जैसी छूट थी। छोटे-छोटे प्रसंगों को लेकर यह नाटक चलता था, कलाकार इच्छानुसार सवाद जोड़ते चलते थे। बहुत बार प्रदर्शन चुटकुलेबाजी जैसा बन जाता था। 'कुशिया का चपरासी' भी इसी ढंग पर चला था पर इसके बाद ही हबीब ने किसी लोककथा को लेकर सुसम्बद्ध नाटक लिखना शुरू किया फलस्वरूप आगामी प्रस्तुतियाँ 'चरनदाम चोर', 'बहादुर कलारिन', 'सोनसागर', 'हिरमा की अमर कहानी' आदि सशक्त नाट्य प्रस्तुतियों के रूप में सामने आयीं। इन प्रस्तुतियों में छत्तीसगढ़ी कलाकार खूब फबे, पूरी तरह फिट बैठे। नाटक के पात्र उनके आसपास के पात्र थे, उनकी समस्याएँ और भावनाएँ उनकी अपनी समस्याएँ और भावनाएँ थी जिन्हें रूपायित करने में उन्हें कोई असुविधा नहीं होती थी, वे स्वयं करने में आनंद पाते थे और करके दर्शकों को आनंद प्रदान करते थे। 'चरनदास चोर' और 'बहादुर कलारिन' हबीब तनवीर द्वारा निर्देशित अत्यंत महत्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ प्रस्तुतियाँ हैं। 'चरनदास चोर' के कथानक की सहजता ने प्रस्तुति को बड़ी तरलता प्रदान की, सब कुछ सहज रूप में प्रवाहित होता चलता है जबकि 'बहादुर कलारिन' की जटिल मानसिकता प्रस्तुति को गंभीर स्वरूप प्रदान करती है, पल-पल पर रुककर सोचने को मजबूर करती है। इन दोनों नाटकों में फिदाबाई के अद्वितीय अभिनय को भुलाया नहीं जा सकता विशेषकर 'बहादुर कलारिन' में नाम भूमिका में। वह शक्ति, वह न भुक्नेवाला व्यक्तित्व, वह बुलंद आवाज और उस बुलंद आवाज में उनका गायन। आज भी सब कुछ दिल-दिमाग में बसा है। परवर्ती नाटकों में हबीब ने शायद नया कुछ नहीं दिया, पूर्व निर्धारित ढर्रे पर प्रस्तुतियाँ होती रहीं, धूमधमाके के साथ वे देश के विभिन्न अंचलों में उन्हें दिखलाते रहे, दर्शक पक्ष-विपक्ष में मत व्यक्त करते रहे। लेकिन मतमतान्तर के बावजूद लोककथाओं पर आधारित हबीब की प्रस्तुतियों का अपना महत्व है। शहरी और लोक रंगमंच के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य इनके

माध्यम से हुआ और अपनी जड़ों की ओर जाने, पाश्चात्य शैली का अधानुकरण करने के बदले अपने देश की परम्परा को पहचानने और उससे जुड़ने, नाचगान से समृद्ध टोटल थियेटर को प्रस्तुत करने आदि का सार्थक प्रयास इनके माध्यम से किया गया। इसका सुफल भी हमें मिला। गत बीस-पच्चीस वर्षों में अपनी जड़ों की ओर जाने की बात जो बार-बार की जाती रही है और उस दिशा में जो कार्य किया गया है, उसका शुभारम्भ हबीब ने किया था, उसका श्रेय उन्हें जाता है।

एक प्रश्न यहाँ अवश्य उठता है कि शहरी रंगमंच को तो इस प्रक्रिया से लाभ हुआ, शहरी कलाकारों ने नयी शक्ति और ऊर्जा के दर्शन किये पर इससे परे उन्हें क्या मिला? क्या वे स्वयं उस शक्ति और ऊर्जा को अपने में समाहित कर पाये? शायद नहीं क्योंकि कोई भी शहरी कलाकार उन भूमिकाओं को उन कुशलता से नहीं कर पाता जैसे लोक कलाकार। फिर लोक रंगमंच को इससे क्या लाभ हुआ? पच्चीस-पचास कलाकार जो हबीब के साथ दिल्ली आ गये उन्होंने स्वयं हबीब से बहुत कुछ सीखा, देश और विदेश के अनेक बड़े-बड़े शहरों में अपनी कला का प्रदर्शन किया और प्रशंसा अर्जित की पर उनसे उनके क्षेत्र के स्थानीय रंगमंच को क्या मिला? हम शहरी लोगों ने तो अपनी जड़ों को निकट से देखा पर जड़ों के इर्द-गिर्द रहनेवालों को उससे क्या लाभ हुआ? उनको अपने विकास का क्या कोई अवसर मिला? शायद इन प्रश्नों पर सोचना आवश्यक हो गया है। हम शहरी लोग शहर और गाँव दोनों का लाभ उठाते हैं, स्वयं निरंतर परिवर्तन के आकांक्षी रहते हैं पर चाहते हैं कि लोककलाकार अपनी परम्परागत विशिष्टता को बनाये रखे, जहाँ थे वहीं रहे, वहीं रहकर हमें ऊर्जा देते रहे। और सच पूछिए तो वह ऊर्जा भी हम ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं, हम केवल उनका साक्षात्कार कर रहे हैं। खैर, ये प्रश्न किसी प्रकार हबीब के योगदान के महत्व को कम नहीं करते क्योंकि ये उठे ही इसलिए कि उन्होंने इस दिशा में इतना काम किया अन्यथा हमारा ध्यान भी उस ओर न जाता।

वैसे हबीब स्वयं इस स्थिति के दुष्परिणाम से बच गये क्योंकि नया थियेटर की प्रस्तुतियों के अतिरिक्त दूसरों द्वारा उर्दू, हिन्दी तथा अंग्रेजी में लिखे नाटक बराबर तैयार करवाते रहे। इसने उन्हें जड़ नहीं होने दिया, उनकी शक्ति और क्षमता को बहुमुखी होकर विकसित होने का अवसर प्रदान

किया। इस दृष्टि से सबसे पहले चर्चा नया थियेटर के लिए किये गये आगा हृश काश्मीरी के नाटक 'रुस्तम और सोहराब' (1960) तथा शकर शेष के नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' (1988) की। इन दोनों प्रस्तुतियों में लोकनाट्य का सीधा प्रभाव नहीं था, ये आधुनिक नाटक थे। 'एक और द्रोणाचार्य' को उन्होंने नया रूप दिया। उसमें पर्याप्त काटछाट तथा परिवर्तन किये। उसे ओपन एयर में किया। नाटक को हबीब ने री-स्ट्रक्चर किया। नाटक में बहुत सी घटनाओं की सूचना दी जाती है। इन दृश्यों को उन्होंने लिखा और सामने दिखलाया जैसे रेप सीन। आस-पास का बड़ा क्षेत्र रगमच बन गया था, यहाँ-वहाँ-वहाँ कुछ-कुछ घटित हो रहा था। चूँकि बहुत से सूच्य दृश्यों को दृश्य बना दिया गया था अतः उन सूच्य दृश्यों को बाद दे दिया। नाटक का कथानक दो स्तरों पर चलता है—महाभारत काल के गुरु द्रोण का सघर्ष और आधुनिक काल के अध्यापक अरविद की कथा समानांतर चलती है। नाटक के काल सम्बन्धी इस विस्तार को हबीब ने प्रस्तुति के स्थान सम्बन्धी विस्तार से जोड़कर एक नया आयाम प्रदान किया, प्रस्तुति बड़ी प्रभावपूर्ण बनी।

नया थियेटर के अतिरिक्त हबीब ने सेट स्टीफेन्स कालेज के छात्रों, पालीटेकनिक, यूनिटी थियेटर, जननाट्य मंच, श्रीराम सेटर तथा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के लिए नाटकों का निर्देशन किया, जामिया मिलिया और हिन्दुस्तानी थियेटर के लिए तो किया ही था जिसकी चर्चा प्रारम्भ में की जा चुकी है। स्टेट स्टीफेन्स और पालीटेकनीक के लिए हबीब ने अग्रेजी में नाटक करवाये। इन नाटकों में 'दी सिगनेट रिंग आफ राक्षस' (1964 : मूल सस्कृत विशाखदत्त का मुद्राराक्षस), 'दी इम्पाटेंस आफ बीइंग अरनेस्ट' (1965 'आस्कर वाइल्ड), 'सरवेट ऑफ टू मास्टर्स' (1969 'गोल्डनी) तथा 'टेमिंग आफ द श्रू' (1968-69 'शेक्सपीयर) उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम दो सेट स्टीफेन्स के लिए, 'सरवेट आफ टू मास्टर्स' पालीटेकनीक और सेट स्टीफेन्स के लिए तथा अंतिम यूनिटी थियेटर के लिए किया। 'दी सिगनेट रिंग' विशाखदत्त के मुद्राराक्षस का पी० लाल द्वारा किया गया अनुवाद था, शेष सभी मूल अग्रेजी के नाटक थे। ब्रेश्ट का 'दी गुड परसन ऑफ सेतजुआ' 1962 में दिल्ली ड्रामा थियेटर कैम्प में तैयार करवाया और लोर्का के 'दी शू मेकर्स प्राडिजस वाइफ' को 1965 में मैसूर और बंगलोर में आयोजित ड्रामा टीचर्स कैम्प में तैयार करवाया। चूँकि ये सभी प्रस्तुतियाँ छात्रों या शिक्षार्थियों को लेकर थीं अतः इनकी नाना सीमाएँ थी, पूरा समय, पूरी तैयारी संभव नहीं थी।

प्रदर्शन भी एक-दो होकर रह गये। वैसे इन प्रस्तुतियों में सुषमा सेठ, आफताब सेठ, वसंत कुमार, अनीता सील, रजनी सेठी, मारकस मर्च, सीलिया गोरेबूथ, रोशन और कबीर सेठ वगैरह ने अभिनय किया। 'सिंगनेट रिग' में पहली बार कुचीपुडी के पर्दे का इस्तेमाल हबीब ने किया। हबीब द्वारा तैयार करवायी गयी इन अंग्रेजी प्रस्तुतियों का ऐतिहासिक महत्व है क्योंकि सन् 1970 के बाद उन्होंने सभवतः अंग्रेजी में नाटक नहीं तैयार करवाये।

जननाट्य मंच के लिए तैयार किया गया 'मोटेराम का सत्याग्रह' (1988), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के लिए किया गया 'दुश्मन' (1989) और श्री राम सेटर के लिए किया गया 'जिन लाहौर नहीं देख्या वो जनम्याई नहीं' (1990) का विशेष महत्व है क्योंकि लंबे अरसे बाद उन्होंने दूसरे दलों के लिए नाटको का निर्देशन किया। प्रेमचंद की कहानी सत्याग्रह का नाट्य रूपान्तर किया सफदर हाशमी ने और निर्देशन दिया हबीब तनवीर ने, मंचन हुआ जननाट्य मंच के तत्वावधान में। सन् 1991 में सफदर की मृत्यु के बाद इसे करने का पूरा दायित्व हबीब पर आ गया और उन्होंने एक प्रधान भूमिका में अभिनय करना भी शुरू किया। सन् 1991 में इसकी नयी प्रस्तुति तैयार की जिसमें जयंत दास ने मुख्य भूमिका में अभिनय किया। नाटक का आलेख और मंचन दोनों ही भरपूर मनोरंजन को दृष्टि में रखकर किया गया है फलस्वरूप अधिकांश स्थितियाँ एवं पात्र अतिरंजित रहे, अनेक स्थलों पर भोड़े भी लगे। एक पेटू ब्राह्मण का लोभ पूरे ब्राह्मण वर्ग के लोभ के रूप में चित्रित किया गया है, उसे हास्यास्पद भी बना दिया गया है। ब्राह्मणों के खिलाफ यह पूर्वग्रह व्यक्तिगत रूप से मुझे अशोभन और अरुचिकर लगा। मैंने जिस दिन देखा था उस दिन की प्रस्तुति भी ढीली-ढाली थी।

असगर वजाहत का नाटक 'जिन लाहौर नहीं देख्या वो जनम्याई नहीं' एक अविस्मरणीय प्रस्तुति थी। हबीब द्वारा निर्देशित नाटको में मैं इसे सबसे ऊँचे दर्जे में रखूँगी। नाटक का कथानक भारत के विभाजन के तत्काल बाद की घटनाओं से सम्बन्धित है, पात्र हमारे निकट के हैं, विभाजन के पैंतालिस वर्ष बाद भी जो हमें अपने चारों ओर मडराते दिखते हैं। इस नाटक में ऐसे पात्र हैं जो हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य के कटु सत्य के बीच सहिष्णुता, सहअस्तित्व और सहज मानवीयता की भावना से अनुप्रेरित काम करते हैं और आज के विषम धर्मान्धता के युग में हमारा पथ-निर्देश करते हैं।

अब कुछ बातें और हबीब के निर्देशन के बारे में। हमें ज्ञात है कि पाचवे दशक में हबीब ने बम्बई में फिल्म और स्टेज पर मुख्यतः ऐक्टर के रूप में काम किया पर धीरे-धीरे वे निर्देशन की ओर झुकते गये। स्वयं हबीब के शब्दों में—

‘बो भी एक जमाना था। विलायत से सीखकर आये थे। सब कुछ ताजा था, नया-नया हिसाब किताब था। मैं बड़े विस्तार से कापी में नोट किया करता था किस डायलॉग पर मूव करेगा, कहाँ मूव करेगा, लाइट यूँ आयेगी, साउन्ड ट्रैक होगा वगैरह। मतलब प्रोडक्शन स्क्रिप्ट जैसे तैयार की जाती है, मैं भी करता था। बाद में जब छत्तीसगढ़ी ऐक्टरों को लेकर काम करना शुरू किया तो लगा सब बेकार है। उन्हें दाये-बाये की ही समझ नहीं थी, उन्हें समझ में ही नहीं आता था कि मैं चाहता क्या हूँ। मैं सर पीट लेता था। कहता—बाबा, दोनों हाथों के दो अलग-अलग काम हैं, खानेवाला हाथ दाहिना है, दाये मुंडो पर वे किसी तरह नहीं समझ पाते थे। बहुत दिनों बाद बराबर लोकनाटक देखते-देखते और उनके साथ काम करके समझ में आया कि ऐसा क्यों था। असल में लोक-कलाकार किसी नियम-कानून में बंधकर काम करने के आदी तो होते नहीं। स्टेज जब, जहाँ, जैसा मिला, उसके अनुसार आये, गये। कभी प्लेटफार्म, कभी चबूतरा, कभी कुछ नहीं। कभी गोल जगह, कभी चौकोर। कभी कुल आठ फीट का चबूतरा, कभी बहुत बड़ा। कभी दर्शक सामने, कभी तीन ओर, कभी चारों ओर। जब जैसी जरूरत हुई ढाल लिया अपने को। इतना ही नहीं जिस ओर के दर्शकों से अच्छा रसपास मिला, उस ओर मुड़ गये। जिस बात में दर्शकों ने रस लिया, उसे सवाद जोड़-जोड़कर बढ़ाते गये। कभी एक गाय आ गयी आसपास तो उसे ही ले उड़े। चुनाचे नाटक कभी पंद्रह मिनट बढ़ जा रहा है तो कभी बीस। हमारे एक बड़े अच्छे ऐक्टर थे ठाकुरराम। बेहतरीन। उन्होंने ‘चरनदास चोर’ में गुरु का रोल किया था। वे बड़े विटी थे, किसी बात को पकड़ लिया तो बस फब्तियाँ कसते ही चलते, बात में से बात निकालते चलते



थे। अब तो नहीं रहे बेचारे, देहांत हो गया 1976 में। तो 'गांव का नाम ससुराल' में वे और मदनलाल ऐक्टिंग करते थे। अब ठाकुरराम को कोई बात जच गयी तो बस उसी के हो गये, सवाद बढ़ाते गये। मदनलाल भी जबरदस्त कामेडियन थे। वह उन्हें रोकते—भैया, मेरा एक मजाक रह गया, वापिस आओ पर ठाकुरराम कहाँ जल्दी लौटनेवाले। दोनों हसाते थे पर दोनों के हसाने में अंतर था। ठाकुरराम हसाते थे दिमाग से और मदनलाल हसाते थे फीजिकल ऐक्टिंग से। वह बड़ा अच्छा फीजिकल ऐक्टर था। जब वह बात मुझे समझ में आयी कि इन लोक कलाकारों को नियम-कानून में नहीं बाधा जा सकता तब मैंने उन पर नियम-कानून लादना छोड़ दिया। माइंड यू, लादना। मसलन उन्हें मोटे तौर पर तो नियम-कानून मानना ही पड़ता है पर हर बात के लिए मैं ज़िद नहीं करता। यदि वे किसी सीन को किसी और ढंग से करना चाहते हैं या किसी सीन में कुछ जोड़ना, घटाना चाहते हैं तो मैं उन्हें वैसा करने की छूट देता हूँ पर यह सब शुरू के रिहर्सल के दौरान हो जाता है। उनके सारे सुझावों को देख लेता हूँ, उनमें से जो मुझे ठीक और उचित लगते हैं उन्हें ले लेता हूँ और एक-एक सीन फाइनल करता चलता हूँ। एक बार फाइनल हो गया तब फिर ऐक्टरों को उसी चौखटे में काम करना होता है। वैसे देखा जाय तो मैं खुद ही रद्दोबदल किया करता हूँ। लंबे अरसे तक जब एक ही नाटक चले तो करनेवाले और करवानेवाले दोनों में एक तरह की शिथिलता और उबाऊपन आ जाता है। तब मैं कुछ-कुछ इधर-उधर करने लगता हूँ। मुझे भी अच्छा लगता है और ऐक्टरों को भी। लंबे अंतराल के बाद यदि आप मेरी प्रस्तुति देखेंगे तो आपको जरूर कुछ नयापन महसूस होगा।”

छत्तीसगढ़ी कलाकारों की बातें करते-करते हबीब अपने में खो गये। यो तो करीब चालीस वर्षों से वे उनके सम्पर्क में हैं पर पिछले बीस-तीस वर्षों से उनका दिन-रात का साथ है, सब एक बृहत् परिवार के अंग है। वे बोले—

“एक बात और। ये पढ़े-लिखे तो हैं नहीं इसलिए पढ़कर सवाद याद करना संभव नहीं। पर इनकी याददाश्त जबरदस्त होती है। एक बार सुना, सवाद याद हो गये, दो-चार बार दोहराया एकदम पक्के हो गये।

और एक बार पक्के हो गये तो फिर सब दिन की छुट्टी। मैं उनका हिसाब लिखकर रखता था, उसमें छटो समय लगाता था पर उन्हें सब जवानी याद रहता था। फिदाबाई थी, हिसाब करने बैठती तो दस उस दिन, पाच सौ उस दिन, डेढ सौ उस दिन, पचीस उस दिन, इतने रुपये इतने आने की चाय उस दिन, कुल इतने रुपये इतने आने। तुम्हारा हिसाब गलत है। और मैं फिर आधा घटा समय लगाकर इस नतीजे पर पहुँचता कि ये ठीक कह रही है, मेरा हिसाब गलत था। एकदम अनपढ़ औरते दीवाल पर लकीर खींचकर या गाँठ बांधकर हिसाब रखनेवाली पर याददाश्त जबरदस्त। इनसे नाटक तैयार करवाने का तरीका भी मैंने अलग इख्तियार किया था। ऐक्टरो का चुनाव करने के पहले मैं इम्प्रोवाइज करवाया करता था। कोई कहानी दे दी—एक हिरन भाग रहा है, शिकारी उसका पीछा कर रहे हैं, फिर तीर से उसे मारते हैं। या एक बार कहा कि मान लो एक घर है, साथ में एक पेड़ है। पेड़ की डालें घर की दीवार पर फैल रही हैं, उससे घर को नुकसान हो सकता है। अब तुम कैसे घर को बचाओगे करके दिखलाओ। ऐक्टरो ने सीन करके दिखलाया और मैंने उनमें से नाटक की जिस भूमिका के लिए जो ऐक्टर ठीक लगा, उसे चुन लिया। फिर दो-चार दिन नाटक का सीन करवाकर पक्का कर दिया। दूसरीवाली कहानी में मेरा यह भी मकसद था कि देखूँ ये समस्या का हल क्या सोचते हैं। एक ने डाल मोड़ दी, एक ने जड़ के पास कुछ खोद-खादकर उसकी जड़ों को थोड़ा मोड़ दिया। एक ने घर की दीवाल थोड़ी खिसकाकर समस्या का समाधान किया। मुझे बहुत अच्छा लगा कि किसी ने पेड़ को काटने की बात नहीं सोची, उसे केवल थोड़ा इधर-उधर करना चाहा। अंतिम ने तो वह भी नहीं किया, घर को ही सरका दिया। शायद यह प्रवृत्ति हमें शहरी कलाकारों में नहीं मिलती। अपनी धरती, गाँव, पेड़-पौधे, फसल, जानवर इनसे इन कलाकारों को जितना लगाव होता है उतना शहरी लोगों को नहीं। मुझे जब किसी नयी चीज़ से उनके गहरे प्रेम को दिखलाना होता है तो मैं उनसे कहता हूँ तुम इसे वैसे ही प्यार करो जैसे अपनी फसल को करते हो, इसे देखकर वैसे ही खुश हो जैसे धान के लहलहाते खेत को देखकर होते हो, इसे ऐसे ही दुलराओ-सहलाओ जैसे अपनी गाय के बछड़े को सहलाते हो तो उन्हें बात तुरत समझ में आ जाती है और वे किसी आधुनिक चीज़ के लिए एक शहरी इंसान के भावों को भी उतनी ही गहराई से दिखला पाते हैं।”

हबीब तनवीर का नाटक तैयार करवाने का अपना तरीका है। चूँकि अधिकतर नाटको का आलेख उनके द्वारा लिखित या रूपांतरित होता है अतः प्रस्तुति की प्रक्रिया और लेखन दोनों साथ-साथ चलते हैं। प्रारम्भिक दिनों में तो हर दूसरे निर्देशक की तरह वे भी कई-कई दिनों तक नाटक की रीडिंग करवाते थे पर जब से मुख्यतया छत्तीसगढ़ के कलाकारों को लेकर काम करना शुरू किया तब से दूसरा तरीका अपनाना पड़ा। इन कलाकारों में से अधिकांश को लिखना-पढ़ना नहीं आता, अतः वे उनसे शुरू से ही नाटक करवाते हैं। पहले पूरे नाटक की कहानी बता दी, फिर नाटक का कोई एक सीन ले लिया। सवाद खुद पढ़ दिये और फिर कहा— अब करो। वे आकर इम्प्रोवाइज करते हैं। कुछ बातें याद रहती हैं, कुछ भूल जाते हैं। बता दिया, टोक दिया, सवाद एक बार फिर से सुना दिया, बस सीन तैयार। पढ़ा-पढ़ाकर नाटक तैयार करने की तुलना में यह तरीका अधिक कारगर होता है। कहने लगे—

“अब ब्रेश्ट का गुड वीमन आफ सेतजुआ लीजिए। मुझे नहीं उम्मीद थी कि ये लोग उस नाटक की नाजूक-नाजूक चीजों की बारीकियों को पकड़ पायेंगे मगर उन्होंने पकड़ा, बखूबी पकड़ा। देखिए साहब, गरीबी का अपना माहौल होता है और ये कलाकार उससे बहुत अच्छी तरह वाकिफ होते हैं इसलिए गुड वीमन में इन्हें कोई परेशानी ही नहीं हुई। ब्रेश्ट ने कहीं भी गरीबी को रोमैटिसाइज नहीं किया है। गरीब इसान है और उसमें भी एक दूसरे का खून चूसने, किसी का पैरासाइट बन जाने, घर में पाव फैलाकर निकम्मे पड़े रहने की टेनडेसी होती है। गरीब का मतलब यह नहीं कि उसमें सब अच्छा ही अच्छा हो—ईर्ष्या, द्वेष, लालच, छल-कपट सब गरीब इसान में होता है, गरीबी के कारण पैदा होता है। इन्हें गरीब इसान का चित्रण करने के लिए कुछ खास करना नहीं पड़ता, सीखना नहीं पड़ता, इनके हाव-भाव तौर-तरीके सब कुछ अपने आप निकलते चलते हैं। नई आधुनिक बातों को समझना इनके लिए मुश्किल होता है। तो जैसा कि मैंने पहले कहा था, मैं इन्हें इनके आसपास की चीजों के माध्यम से समझाता हूँ। अब एक हवाई जहाज की मशीन के लिए एक पायलट के मन में कितना प्रेम हो सकता है यह समझना इनके लिए मुश्किल था तो इनकी कल्पना को शिफ्ट किया। मैंने कहा—मान लो यह फूल है, मान लो यह फसल है, लहलहाती धान की बालिया है। तुम

मशीन से ऐसे बातें करो जैसे यह तुम्हारी माशूका हो। गाँव में जो चीज तुम्हें सबसे प्यारी लगती हो, उसके बारे में सोचकर बोलो। तब उनकी समझ में बात आई और एक बार आ गयी तो फिर किला फतह। फिर तो वे इतना उम्दा अभिनय करते हैं कि पूछिए मत। मुझे अपने ऐक्टरों पर नाज है, आइ एम प्राउड आफ देम। मैं कास्टिंग करने में बहुत समय लगाता हूँ पर जब एक बार कर लेता हूँ तब फिर मुझे कभी पछताना नहीं पड़ता। अब गुड वूमन इन लोगो ने बहुत अच्छा किया। गरीबी में हो, किसी के सिर जा पड़ो, चाय पीयो, रहो टाग फैलाकर और ऊपर से धौंस जमाओ कि मैंने तुम्हारी मदद की थी। ब्रेश्ट के दामाद एकार्ड बहुत बड़े ऐक्टर हैं, उन्होंने अजदक का रोल बेमिसाल किया पर उन्हें सब कुछ सीखकर करना पड़ा और हमारे ऐक्टरों ने उसे बड़े सहज रूप में बखूबी किया।

“इस सिलसिले में मैं फिदाबाई का खास जिक्र करना चाहूँगा। बहुत जबरदस्त आर्टिस्ट थी। याददाश्त कमाल की। जो भी रोल हो उसकी बारीकियों को बखूबी समझती और स्टेज पर उतारती थी। आवाज का तो कहना क्या—बुलंद आवाज़, पूरा हॉल चुप हो जाता था। बेचारी जल गयी बुरी तरह नहीं तो अभी बरसों और काम करती। वैसे एक बात मैं कहूँ। केवल मैंने ही इन आर्टिस्टों को सिखाया हो सो नहीं, मैंने भी इनसे बहुत कुछ सीखा है। इन्हें मेरी कोई बात जब ठीक नहीं लगती तो ये मुझे टोक देते हैं और उनकी बात में सार हुआ तो मैं उसे मान लेता हूँ। मगर यह सब नाटक में तभी मुमकिन हो पाता है जब ऐक्टरों का एक दल लम्बे अर्से तक साथ रहे। तब वह आपको समझ पाता है, आप उसकी ताकत और सीमा को समझ पाते हैं और आपस में देना-लेना चालू हो जाता है। छत्तीसगढ़ की खास चीजें तो इनसे सीखी ही, उसके अलावा भी बहुत कुछ सीखा। मेरी बेटी नगीन तो इन बे-पढ़े-लिखे छत्तीसगढ़ियों की हर बात पर फिदा है—नाच-गाना, रहना-सहना, खाना-पीना, दाल-भात-चटनी सब पर वह जान छिड़कती है।”

तो ऐसे हैं निर्देशक हबीब तनवीर जिनकी प्रस्तुतियों का देश-विदेश कायल है।

और अब लेखक हबीब तनवीर जिनके बारे में हमलोग आम तौर पर चर्चा नहीं करते। इसका एक बड़ा कारण यह है कि उनकी रचनाएँ पुस्तकाकार छपकर सामने नहीं आयी। आगरा बाजार और चरनदास चोर अपवाद है। हममें से बहुतों को यह पता भी नहीं कि हबीब के लेखन का प्रारम्भ उर्दू की नज्मों से हुआ था। बात पाचवे दशक की है जब वे बम्बई में थे। बड़े मजे की बात है कि इस दौरान वे उर्दू, अंग्रेजी और हिन्दी तीनों भाषाओं में लेखनी चला रहे थे और तीनों में अलग-अलग क्षेत्रों में काम कर रहे थे। उर्दू में गजल और नज्मे लिख रहे थे, जगह-जगह मुशायरों में पढ़ रहे थे। अंग्रेजी में नाटक और फिल्मों की समीक्षाएँ लिख रहे थे तथा हिन्दी में छोटे-छोटे स्ट्रीट प्ले। स्वयं उनके शब्दों में—“उन दिनों सरदार जाफरी हमें लिये-लिये फिरते थे मुशायरों में। मुशायरा जीतना है, चलो हबीब मेरे साथ। तुम्हारे पास आवाज़ है, तरन्नुम है, गजल भी है। शिगुपता कहते हो। चुनाचे हम मुशायरा जीतते फिरते थे उस जमाने में।” सरदार जाफरी जैसे शायर का यह कथन कवि हबीब की काबलियत के लिए बहुत बड़ा सर्टिफिकेट था। सन् '45 के आसपास शुरू हुआ कविता लिखने का यह क्रम आज तक चालू है। हबीब ने बतलाया कि उन्होंने गजलों से शुरुआत की और उर्दू की रची-बसी क्लासिकल गजलों के साथ ही छ नये मीटरों का भी इस्तेमाल किया जिसे लोगों ने बहुत पसंद किया। गजल और शेर अभी भी लिखते हैं, पढ़ते हैं वैसे पिछले वर्षों में उनकी कवित्व शक्ति का परिचय उनके द्वारा लिखे या रूपांतरित नाटकों के गानों के रूप में मिलता है। अपने काव्य-लेखन के बारे में हबीब ने बड़ी ईमानदारी से कहा कि—

“शुरू-शुरू में सब कुछ ठीक लगता था पर पहले फेज के बाद कई बार मुझे लगता कि मेरी गजल में किसी और की बात की ईको है। लोग तारीफ करते थे। तमाम नयेपन और लोगों की तारीफ के बावजूद मुझे शक होने लगा कि मेरी शायरी में दूसरों का थोड़ा ईको है वह चाहे उस्तादों का हो चाहे किसी गजल का चाहे किसी और बात का। मुझे लगा मुझे वह नहीं कहना चाहिए। उसके बाद से मैंने यह कसौटी अपने लिए तै की कि यदि कोई चीज, कोई बात मेरी अपनी प्रेरणा से मन में उठेगी, तो उसे ही कहूँगा, नहीं तो नहीं। पहले तो कहने को कमीशन होता था—कुछ अच्छा कहा, बहुत कुछ बकवास। अब साल दो साल में कोई बात सूझती है तो कहता हूँ नहीं तो चुप रहता हूँ। असल में इधर पिछले बीस सालों

से मैं दो-तीन तरह की कविताएँ कर रहा हूँ। एक वो गीत है, जो मेरे नाटको में गाये जाते हैं। दूसरी कुछ ऐसी कविताएँ हैं जिनका ताल्लुक ड्रामे से है, जो अपने आप में ड्रामा हैं जैसे रामनाथ का जीवन चरित्र। तीसरी वे कविताएँ हैं जिनका ताल्लुक ड्रामे से नहीं है, जो किसी विचार को, आइडिया को, मेरे सोच को सामने लाती हैं। मेरे लिए इनकी सबसे ज्यादा अहमियत है।”

हबीब की नज़्मे, गज़ले उर्दू के रिसालो में तो बराबर छपती रही पर अभी तक पुस्तक के रूप में उनका प्रकाशन नहीं हुआ है। कारण उनका आलस्य और समय का अभाव। छपने के पहले ज़रूरी है कि उनमें थोड़ा सशोधन किया जाय, कुछ जोड़ा जाय, कुछ घटाया जाय पर यह सब करने की फुर्त ही नहीं। राधाकृष्ण प्रकाशन के ओमप्रकाश जी आगरा बाज़ार का आलेख जबरदस्ती उठा ले गये और उन्होंने छाप दिया तो छप गया वरना वह भी न छपता। उसमें कुछ भूले रह गयी थी जिनका दूसरा संस्करण छपने के पहले सशोधन करने के लिए प्रकाशको ने बहुत कहा पर हबीब कर ही नहीं पाये चुनाचे उन्होंने वैसा का वैसा छाप दिया।

सन् 1988 में प्रकाशित चरनदास चोर सभ्यत एकमात्र नाटक है जिसका आलेख हबीब तनवीर तैयार कर सके और प्रकाशन के लिए दे सके। अवश्य ही चरनदास चोर की प्रस्तुति की लोकप्रियता ने उन्हें ऐसा करने को बाध्य किया होगा। राजस्थान की एक मशहूर लोककथा पर आधारित यह नाटक कैसे प्रारंभ हुआ, कैसे विकसित हुआ और कैसे अब अपने अंतिम रूप में स्थित हो गया है, इसकी चर्चा चरनदास चोर की प्रस्तुति के प्रसंग में की जा चुकी है। नाटक के सवाद खड़ी बोली हिन्दी में है, कहीं-कहीं ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया गया है या भाषा में ग्रामीणता का पुट दिया गया है। नाटक में प्रयुक्त गीत सब छत्तीसगढ़ी में हैं—कुछ लोकगीत, कुछ सतनामियों द्वारा गाये जानेवाले गीत-भजन। गीतों की भाषा ठेठ छत्तीसगढ़ी है, हिन्दी भाषा-भाषियों को भी आम तौर पर समझने में कठिनाई होती है पर उसका मूल भाव सहज ही सम्प्रेषित हो जाता है।

अंग्रेजी का इस्तेमाल हबीब तनवीर ने समीक्षाओं के क्षेत्र में किया। इसका पहला दौर दूसरों की प्रस्तुतियों की समीक्षा का था जिसका सम्बन्ध मुख्यतः इनके बम्बई प्रवास और विदेश से लौटने के बाद दिल्ली में हुई

प्रस्तुतियों की समीक्षा से था। बम्बई में लिखी गयी समीक्षाएँ फिल्मों की भी हुआ करती थी। यह दौर करीब बीस-पच्चीस वर्षों का था। दुर्भाग्य से समीक्षाओं में से एक भी देखने को नहीं मिली। हबीब के पास है नहीं और उनके संग्रह का एकमात्र उपाय है उस समय के दैनिक अखबारों को छानना। बहरहाल स्वयं हबीब के अनुसार वे बहुत तीखी होती थी और उनके शुभचिंतकों ने यह भी कहा था कि ऐसी तीखी आलोचना मत करो खासकर फिल्मों की, फिल्मवाले तुम्हारे पीछे गुडे लगा देंगे पर हबीब ने सुना नहीं, जो कहना था निर्भीक कहते रहे। करीब बीस वर्षों तक यह क्रम चला फिर उन्हें शक होने लगा कि कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरा निर्देशक मेरे समीक्षक पर हावों हो रहा है, मैं समीक्षा करते समय कहीं अपनी कल्पना को सामनेवाली प्रस्तुति पर लादकर तो निर्णय नहीं कर रहा हूँ? जब यह शक बार-बार मन में आने लगा तो उन्होंने समीक्षा करना छोड़ दिया। हबीब की यह मूल ईमानदारी विशेष ध्यान देने योग्य है। गजल लिखते समय जहाँ लगा कि उसमें आये भाव या उसकी शैली पूरी तरह अपनी नहीं है, उस पर किसी और की छाया है, उन्होंने गजल लिखना कम कर दिया लिखा तभी जब बात पूरी तरह अपने मन से उपजी। समीक्षा के क्षेत्र में भी वही कि जहाँ लगा कि मैं पूरी ईमानदारी नहीं बरत रहा हूँ, शायद मेरा निर्णय इस बात से गाइड हो रहा है कि मैं इस नाटक को करता तो कैसे करता बजाय इसके कि अपने आप में प्रस्तुति कैसी हुई है, उन्होंने समीक्षा करना छोड़ दिया। ऐसा विवेक कम लोगों में दिखलाई पड़ता है।

सातवे और आठवे दशक में हबीब ने अपनी प्रस्तुतियों के बारे में बराबर लिखा, विस्तार से लिखा। उनके लेख एवं विचार इनैक्ट तथा नटरंग में बराबर छपे। इसी दौरान लंबे-लंबे इंटर्व्यू भी छपे। हबीब ने दूसरों के बारे में एकदम न लिखा हो सो नहीं पर कम लिखा। परिशिष्ट में सकलित उनकी कुछ रचनाएँ और साक्षात्कार हबीब की दृष्टि को विस्तार से प्रस्तुत करते हैं। दृश्याकन, पारसी थियेटर, भारतीय प्रयोग (दी इंडियन एक्सपेरिमेंट), शिवपुरी का राजहंस आदि विषयों के साथ ही उन्होंने मिट्टी की गाड़ी की अपनी प्रस्तुति, संस्कृत नाटको तथा ब्रैश्ट और लोर्का के नाटकों को प्रस्तुत करते समय उठनेवाले मुद्दों का विस्तार से विवेचन किया है। इन लेखों में प्रसंगानुसार अपनी जड़ों की ओर जाने का आग्रह, नाट्य प्रशिक्षण, अभिनय में मातृभाषा का महत्व, लोक कलाकारों की शक्ति और ऊर्जा, शहरी

कलाकारों की सीमाओं आदि के बारे में भी विचार व्यक्त किये हैं। हबीब तनवीर को समझने के लिए आवश्यक है कि हम उनकी इन रचनाओं को पढ़ें, इनमें व्यक्त विचारों को गुने और तब उनके बारे में अपनी धारणा बनायें।

लेखन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्व रहा है नाट्यकार हबीब तनवीर का। यद्यपि नाट्यलेखन के क्षेत्र में उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है तथापि मूल्यांकन बहुत कठिन। किसी कृति का मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि वह आपको उपलब्ध हो और एकाधिक बार, नाना दृष्टियों से आप उसका गंभीर अध्ययन करके अपना विवेचन प्रस्तुत करें। पहली कठिनाई यही आ खड़ी होती है क्योंकि हबीब तनवीर द्वारा लिखित, रूपांतरित, भाषांतरित या अनूदित नाटकों के आलेख उपलब्ध नहीं—न मुद्रित रूप में न हस्तलिखित रूप में। 'आगरा बाजार' और 'चरनदास चोर' अपवाद हैं। 'आगरा बाजार' को इनके मित्र ओप्रकाशजी ने जबरदस्ती राधाकृष्ण प्रकाशन की ओर से प्रकाशित किया। पहले संस्करण की समाप्ति के बाद अपेक्षित संशोधन भी हबीब करके नहीं दे सके फलस्वरूप द्वितीय संस्करण पुनर्मुद्रण ही होकर रहा गया—अपनी खामियों के साथ। चरनदास चोर काफी बाद में सन् 1988 में छपा। अब स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों? मुझे इसके एकाधिक कारण समझ में आते हैं। पहला यह कि नाट्यालेख तैयार करते समय निर्देशक हबीब तनवीर नाट्यकार हबीब तनवीर पर हावी रहते हैं और कभी भी वे एक नाट्यकार की हैसियत से बिना किसी प्रकार के बाहरी दबाव के—वह चाहे कलाकारों का हो चाहे दर्शकों का—स्वतंत्र रूप से नाट्य रचना नहीं करते। नाटक लिखते समय अपने नाट्यदल के कलाकार सामने रहते हैं, उन कलाकारों की शक्ति, ऊर्जा और सीमाएं सामने रहती हैं और ये सब न केवल उनके पहले प्रारूप को प्रभावित करती हैं वरन् रिहर्सल के दौरान आलेख में निरंतर परिवर्तन और परिवर्धन के लिए प्रेरित करती रहती हैं, बाध्य भी करती हैं। स्वयं हबीब ने एक बार बातचीत के दौरान कहा कि "मेरी प्रस्तुतियों में निरंतर बदलाव आता रहता है, लंबे समय बाद आप देखें तो आपको प्रस्तुति में बहुत कुछ नया लगेगा। एक ही ढंग से करते-करते मैं भी ऊब जाता हूँ और मेरे कलाकार भी।" नाट्यकार और प्रस्तुतिकर्ता एक ही व्यक्ति के होने के कारण वह जब चाहे जो परिवर्तन कर लेता है। मेरा अनुमान है कि यह परिवर्तन कभी पूरी तरह पूरे आलेख में खपता होगा, कभी यो ही थिगली सा रह जाता होगा। करने



और देखने के समय तो नहीं पता चलता पर जब आप उसे लिखित रूप में रखने चलते हैं तब सशोधन अनिवार्य लगता है। यह परिवर्तन-परिवर्धन केवल हबीब करते हो, वही नहीं, उनके कलाकार भी करते चलते हैं। फलस्वरूप किसी भी कृति को मुद्रण के लिए तैयार करना उनके लिए समस्या रहती है। पहले वे प्रोडक्शन काफी तैयार किया करते थे, बाद में वह भी छोड़ दिया क्योंकि उनके नया थियेटर के छत्तीसगढ़ी कलाकार अपने ढंग से चलते-फिरते काम करते हैं, नियमों में बाधकर उनसे काम नहीं करवाया जा सकता।

हबीब के नाटकों के मुद्रित न होने का संभवतः एक और कारण है भाषा। 'आगरा बाजार', 'मेरे बाद' तथा 'राजा चबा और चार भाई' जैसी उर्दू की रचनाओं को छोड़कर शेष सभी छत्तीसगढ़ी बोली में है। बोलियों का बहुत कुछ शब्दों के उच्चारण, बलाघात, वाक्यों के आरोह-अवरोह आदि पर निर्भर करता है। उन्हें किसी भी लिपि में सही-सही नहीं उतारा जा सकता। हबीब तनवीर के नाटकों को देवनागरी लिपि में प्रस्तुत करना होगा जिसमें अक्षर—संकेत—चिह्नों—का विकास मूलतः खड़ी बोली हिन्दी के अनुकूल है, हिन्दी क्षेत्र की बोलियों के अनुकूल नहीं। और उन्हें पढ़ेगा कौन? छत्तीसगढ़ी बोलचाल की भाषा है, उसमें लिखित साहित्य बहुत कम है अतः पाठक भी नहीं के समान है। फिर नाटक देखते समय शब्दों के माध्यम से जो कुछ कहा जाता है उसे अभिनेता के हाव-भाव स्पष्ट करते चलते हैं, जो भाषा की दूरी के कारण नहीं समझ में आता, वह अभिनय (आंगिक और सात्विक) के माध्यम से सम्प्रेषित हो जाता है। केवल पढ़कर उन बातों को समझना कठिन होगा कम से कम दूसरे क्षेत्रवालों के लिए। ऐसी स्थिति में—नाटकों के लिखित आलेख उपलब्ध न होने की स्थिति में—हबीब तनवीर की रचनाओं का मूल्यांकन कठिन है फिर भी जो कुछ स्वयं उनके मुह से सुना है, जो स्वयं मैंने देखा और अनुभव किया है तथा दूसरे लोगों ने उनकी रचनाओं के बारे में जो लिखा है उनके आधार पर हबीब के नाटकों का सीमित रूप में विवेचन किया जा रहा है।

हबीब तनवीर के नाटकों में हमें दो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं—मौलिक एवं आधारित। इन दोनों कोटियों को हम पुनः दो-दो भागों में बाँट सकते हैं—पोस्टर नाटक और पूर्ण नाटक तथा गजलों और नज़्मों पर

हबीब द्वारा लिखे गये दूसरो की रचनाओ पर आधारित नाटको की सख्या बडी है। इनमे सबसे पहले चर्चा 'आगरा बाजार' (1954) और 'मेरे बाद' (1968) की क्योंकि ये दोनो विशिष्ट रचनाए थी और इनके सृजन के पीछे कविहृदय हबीब का विशेष योगदान था। नजीर अकबराबादी की नज्मो पर आधारित 'आगरा बाजार' नाटक है भी और नही भी क्योंकि इसमे न कोई सगठित कथानक है और न ही कोई केन्द्रीय पात्र। लेखक का उद्देश्य आगरा के एक बाजार का चित्र प्रस्तुत करना था जो वह छोटी-छोटी घटनाओ, बाजार लगाकर बैठनेवाले खोमचेवालो, दुकानदारो, खरीद-फरोख्त के लिए आनेवाले लोगो के माध्यम से बखूबी करता है। बाजार मे बैठनेवाली एक बाईजी का कोठा सारे वातावरण को रसीला बनाता है तो बदर का नाच मनोरंजक। कथागायको के माध्यम से लेखक बिखरे सूत्रो को जोड़ता भी है और आस-पास के माहौल और घटनाओ पर टिप्पणी भी करता चलता है। नाटक का उत्तरार्द्ध गंभीर हो गया है, हम चाहे तो बोझिल भी कह सकते है। नजीर अकबराबादी की प्रचुर नज्मो का पाठ इस अंश मे करवाया गया है। वह कही तो कथाप्रवाह को आगे बढ़ाता है पर अधिकतर उसे बाध देता है। नाटक का आलेख अभिनेय है, हर पल जिये जाने की अपेक्षा रखता है। वैसे शायद यह कहना अनुचित न होगा कि इस नाटक की सफल प्रस्तुति के लिए हबीब जैसे आगरा के रीति-रिवाज और वातावरण से परिचित, मुसलमानी तहजीब के जानकार और कुशल निर्देशक का होना आवश्यक है अन्यथा प्रस्तुति बिखर जायेगी।

'आगरा बाजार' यदि नजीर अकबराबादी की नज्मो पर आधारित नाटक था तो 'मेरे बाद' गालिब की गजलो पर। शायर गालिब हबीब तनवीर को बहुत प्रिय थे और वे बहुत दिनो से उनके जीवन पर आधारित एक नाटक लिखना और खेलना चाहते थे। धुधले-धुधले चित्र मन मे बनते-बिगड़ते रहे और उन्हें कोई निश्चित रूप देने का मौका नही मिल रहा था कि आ गयी गालिब शतवार्षिकी। कमेटी की ओर से निर्णय हुआ कि गालिब के जीवन पर आधारित एक नाटक खेला जाय और उसके लिए प्रस्ताव रखा गया हबीब तनवीर के सामने। उन्हें तो मन-मागी मुराद मिल गयी। झट प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। नाटक प्रस्तुत करने के लिए पांच हजार रुपये मिलते, उसका लोभ भी था। हबीब जुट गये नाटक लिखने मे। नाटक का आलेख तैयार करना आसान न था क्योंकि हबीब गालिब को एक

भिन्न रूप में चित्रित करना चाहते थे। उनके मन में गालिब एक ट्रैजिक व्यक्ति के रूप में आते थे, वे उन्हें उसी रूप में चित्रित करना चाहते थे, हीरोइक गालिब के रूप में नहीं। नाटक एटी गालिब तो नहीं था पर दुखात था, कोर्ट में गालिब का अपमान होता है और उस धक्के से उनकी मृत्यु हो जाती है। एक तो यह कथानक परम्परा से हटकर था फिर जन्मशतवार्षिकी के अवसर पर गालिब के दुखद अंत को दिखलानेवाला नाटक खेला जाना सबको पसन्द आयेगा या नहीं यह डर हबीब के मन में था इसलिए अंत तक उन्होंने कमेटी को नाटक का स्क्रिप्ट भेजा ही नहीं। बहाने बनाते रहे कि स्क्रिप्ट पर काम हो रहा है, नाटक का लेखन और तैयारी दोनों साथ-साथ चल रहे हैं, इस लिए आलेख नहीं भेज सकता। नाटक खेलने का दिन आया, नाटक शुरू हुआ पर खत्म होने को ही न आये। आलेख तीन-चार घंटों का हो गया था। न आलेख को देखने का समय मिला था न उसके खेलने में लगने-वाले समय का अंदाज था। लोग उठकर चले गये बीच में ही। इस नाटक में हबीब ने गालिब की प्रचुर गजलों का पाठ किया-करवाया। उनका कहना है कि गजल पढ़ी जानी चाहिए तभी उसका पूरा अर्थ स्पष्ट होता है। गाने में लोग तारीफ़ स्वर और काफ़िये की ज्यादा करते हैं, गजल के अपने भाव या बुनावट की कम। इस नाटक में उन्होंने बेहतरीन उर्दू का इस्तेमाल किया। उनका कहना है कि 'मेरे बाद' लिखते समय 'फसाने आजाद' के लेखक रतननाथ दूर सरशार की भाषा उनके सामने थी और उसके जैसी ही रवानगी भरी उर्दू उन्होंने इस नाटक में लिखने का प्रयत्न किया जिसमें उन्हें पूरी सफलता मिली। काट-छाटकर इस नाटक को नये सिरे से करने की तमन्ना अभी भी उनके मन में है पर अब वैसे कलाकार उनके पास नहीं जो दिल्ली की उर्दू जुबान को अधिकार के साथ बोल सके।

नज्मों और गजलों पर आधारित नाटकों के बाद नंबर आता है उन नाटकों का जो लोककथाओं या आधुनिक युग की कहानियों पर आधारित हैं। इन नाटकों को 'आगरा बाज़ार' और 'मेरे बाद' के बाद स्थान देने का एक कारण है। इन दोनों नाटकों की रचना करते समय उनके सामने नज़ीर और गालिब जैसे शायरों की बेहतरीन नज्मों और गजलों थी और उन्हें केन्द्र में रखकर वे उन शायरों के जीवन और उनके जमाने को प्रस्तुत करना चाहते थे। संभवतः इन नाटकों को लिखते समय उनके सामने न कलाकार थे, न अपने दिल का भविष्य, न दर्शक। एक संवेदनशील कवि ने दूसरे श्रेष्ठ

कवियों की रचनाओं के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करनी चाही नाटक के रूप में। श्रेष्ठ कविताओं के कारण इन नाटकों को एक विशेष तरह की गरिमा मिली, नाटक का स्तर ऊँचा उठा। अन्य नाटकों के क्षेत्र में ऐसा नहीं हुआ। 'शतरज के मोहरे' (1948) एक मात्र ऐसा नाटक है जो मुश्मी प्रेमचंद जैसे कुशल कथाकार की कहानी 'शतरज के खिलाड़ी' पर आधारित है अन्यथा अन्य सभी सात पैसे (1959), अर्जुन का सारथी (1970), गांव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद (1973), ठाकुर प्रिथिपाल सिंह (1974), चरनदास चोर (1975), बहादुर कलारिन (1978), सोनसागर (1980), हिरमा की अमर कहानी (1985) आदि लोककथाओं पर आधारित हैं। लोककथाओं की अपनी शक्ति होती है तो उनकी सीमाएँ भी होती हैं। आम तौर पर सब कुछ बड़े सहज रूप में कह दिया जाता है, भावगत जटिलता या अभिव्यक्ति का पेचीदापन नहीं रहना, बहुत बार गभीरता का भी अभाव रहता है। फलस्वरूप इन कथाओं पर आधारित नाटकों में सरस कथा का मजा तो आता है, बहुत बार मनोरंजन भी होता है पर उससे अधिक विशेष कुछ नहीं। चूँकि इनमें से किसी का भी आलेख उपलब्ध नहीं अतः नाटक के स्तर पर इन रचनाओं का सम्यक विवेचन संभव नहीं तथापि दो-एक बातें निस्संकोच कही जा सकती हैं। सबसे पहली यह कि हबीब तनवीर ने लोककथाओं को अपने नाटकों का आधार बनाया है, उनका नाट्य रूपांतर नहीं किया है। नाट्यकार हबीब की तारीफ इस बात में है कि उन्होंने एक प्रचलित लोककथा के साथ अपनी कल्पना और नाटकीय क्षमता का समन्वय करके उसे एक शक्तिशाली नाट्यकृति का रूप दिया जो मंचन की कसौटी पर खरी उतरी। कहानी का मूल आधार लोकजीवन से लिया गया होने पर भी वह आधार मात्र रहा है, उस पर नाट्यभवन का निर्माण करने का पूरा श्रेय हबीब को है। दूसरी बात यह कि ये सभी रचनाएँ रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखी गयी थीं। नाच-गानों के संयोजन द्वारा इन आलेखों को टोटल थियेटर के लिए उपयुक्त बनाना पहनाया गया और उस दृष्टि से ये सभी नाटक मंच पर अत्यंत लोकप्रिय हुए। और तीसरी बात यह कि हबीब के नाट्य लेखन में धीरे-धीरे परिपक्वता आती गयी है। 'आगरा बाजार' का बिखराव और 'गाँव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद' की चुटकुलेबाजी धीरे-धीरे अधिक सश्लिष्ट कथानक का रूप लेती गयी है और 'हिरमा की अमर कहानी' में उसका मैच्योर रूप हमें देखने को मिलता है। यह सही है कि मूलतः अपने दिल के लिए लिखने के कारण जिसमें लोक कलाकारों की प्रधानता है और जिनकी क्षमता

का पूरा उपयोग नाच-गान तथा ऊर्जामय अभिनय करने में ही किया जा सकता है, हबीब के नाटक—वे चाहे मौलिक हों या आधारित—सीमाबद्ध हों गये हैं। हबीब को लेखन के लिए मुख्यतः लोककथाओं का आधार लेना पड़ा है ताकि उनके कलाकार अपने को सहज महसूस कर सकें, ऊर्जामय नाच-गान कर सकें। उनकी क्षमता का उपयोग ऐसी रचनाओं में ही किया जा सकता था। सीधी सी बात है, नाट्यदल की सीमाओं ने हबीब के नाट्यलेखन को सीमाबद्ध किया। यदि नया थियेटर में मुख्यतः छत्तीसगढ़ी कलाकार न होते तो अवश्य ही हबीब अपने नाटकों के कथानकों को लोककथाओं तक सीमित न रखते और कुछ नाटक ऐसे भी लिखते जिनमें नाच-गाने न होते।

एक और बात भाषा की भी है। छत्तीसगढ़ी कलाकारों के कारण ही हबीब ने अपने अधिकांश नाटकों की भाषा छत्तीसगढ़ी रखी है। यद्यपि सारे हिन्दी प्रदेश में थोड़ी चेष्टा करके दर्शक छत्तीसगढ़ी समझ लेता है पर उर्दू में अच्छी महारत रखनेवाले हबीब ने उर्दू, खड़ी बोली या दिल्ली की उस जुबान में बहुत कम नाटक लिखे या खेले जो सामान्य स्थिति में शायद करते ही। निर्देशक हबीब तनवीर नाट्यकार हबीब तनवीर को निरंतर नियंत्रित करता रहा। नाटकों में नाच-गाने का समावेश अनिवार्य—सा हो गया। दूसरों के नाटकों का निर्देदन करते समय यदि उनमें गाने नहीं हैं तो हबीब गाने जोड़ देते हैं जैसे असगर वजाहत के 'जिन लाहौर नहीं देखा वो जनम्याई नहीं' और मैक्सिम गोर्की के 'दुश्मन' में। ये दोनों नाटक क्रमशः श्री राम सेटर रेपरटरी और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के लिए हबीब ने तैयार करवाये और उनमें नाच-गाने का समावेश किया। यह अब उनके लिए अनिवार्य—सा हो गया है, उसके बिना उन्हें प्रस्तुति सूनी-सूनी लगती है। वैसे यह सही है 'जिन लाहौर में' फिराक गोरखपुरी, अमृता ग्रीतम, राही मासूम रजा और नाजिर काजिमी की कविताओं का बड़ा खूबसूरत प्रयोग किया गया था, उन्होंने नाटक को प्राणवान एवं प्रभावपूर्ण बनाया था।

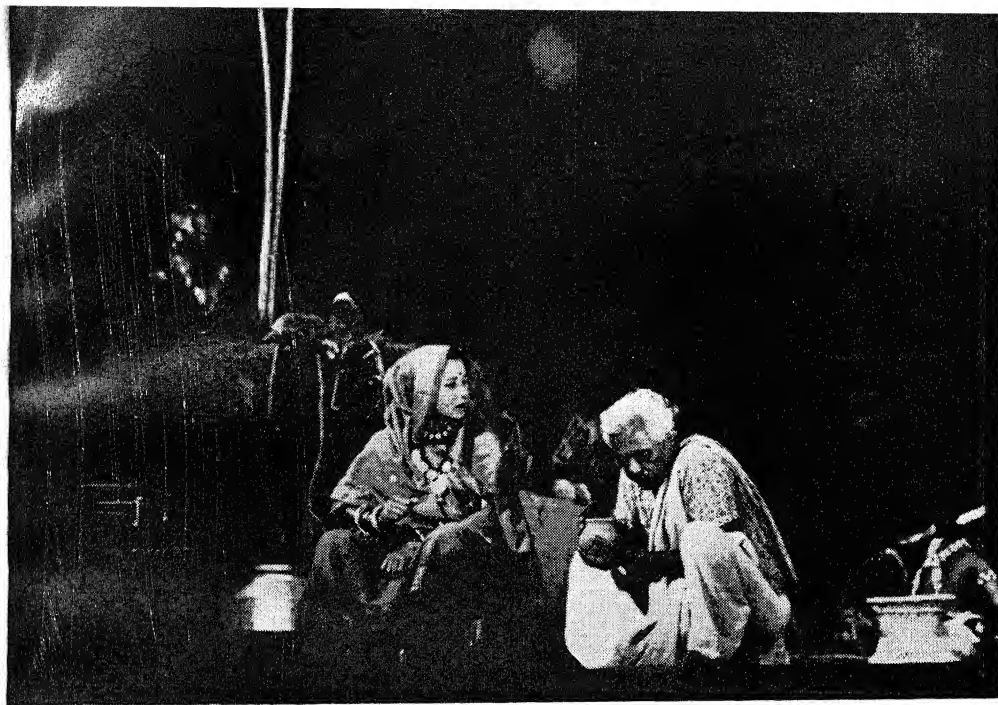
हबीब तनवीर के मौलिक और आधारित नाटकों के बाद स्थान आता है रूपांतरित नाटकों का। रूसी नाटक 'दी फेमिनिन टच' का भारतीय रूपांतर 'जालीदार पर्दे' उनका पहला रूपांतर है जो सन् 1952 में बम्बई में खेला गया। एक अंग्रेजी एकांकी पर आधारित 'फासी', मोलियर के 'बुर्जुआ जेंटलमैन' पर आधारित 'मिर्जा शोहरत बेग' (1959, जो बाद में लाला शोहरत

राय के नाम से छत्तीसगढ़ी बोली में रूपांतरित किया गया), बर्टोल्ट ब्रेश्ट के 'दी गुड परसन आफ सेतजुआन' का रूपांतर 'शाजापुर की शातिबाई' (1978) और गोगोल के 'दी गवर्नमेंट इसपेक्टर' का रूपांतर 'शाह बादशाह' (1980, तोश साहनी के अनुवाद पर आधारित) विशेष उल्लेखनीय है। यद्यपि ये सभी रचनाएँ नाटक थीं पर हबीब ने अनुवाद न करके उनका भारतीय रूपांतर किया और प्रथम दो को छोड़कर सभी को छत्तीसगढ़ी भाषा में (भी) रूपांतरित किया। ये रूपांतर अनुवाद के निकट होते हुए भी अनुवाद नहीं हैं क्योंकि इनमें थोड़ा हेर-फेर किया गया है और ऐसा करने में ही हबीब का मौलिक योगदान मानना चाहिए। यद्यपि यह सही है कि किसी विदेशी नाटक का अनुवाद चाहे वह खड़ी बोली हिन्दी में हो या बाँग्ला में या फिर किसी क्षेत्रीय बोली में कोई अंतर नहीं पड़ना चाहिए पर अंतर पड़ता है। हमारे देश में—और शायद सर्वत्र—बोलियों का सम्बन्ध क्षेत्र विशेष से होने के साथ ही समाज के वर्ग विशेष से भी होता है। बोलियों के बोलनेवाले मुख्यतः ग्रामवासी होते हैं या समाज के निम्न तबके के लोग होते हैं, शहरी और पढ़े-लिखे लोग आम तौर पर भाषा का इस्तेमाल करते हैं। बाँग्ला के नाटक में नौकर-चाकर या किसान, डाइवर आदि भोजपुरी बोलेंगे या ऐसी भाषा बोलेंगे जिसमें भोजपुरी या अन्य किसी बोली का पुट हो। यद्यपि भोजपुर क्षेत्र में उच्च वर्ग के पढ़े-लिखे लोग भी भोजपुरी में बातचीत करते हैं पर नाटको में यह चलन-सा हो गया है। विदेशी नाटको के रूपांतर में जब हबीब छत्तीसगढ़ी बोली का इस्तेमाल करते हैं तब पात्रों के साथ भाषा का तालमेल बैठाने में आम दर्शकों को असुविधा होती है, एक पढ़े-लिखे सभ्रात टिपटाय व्यक्ति से छत्तीसगढ़ी सुनने की अपेक्षा उसे नहीं होती। लाला शोहरत राय में यह स्थिति खटकी थी, शाह बादशाह में भी खटकी होगी। चूँकि आलेख सामने नहीं है इसलिए विस्तृत विवेचन संभव नहीं तथापि यह तथ्य सामने आया था। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हबीब ने देश-विदेश के नाटको को आम जनता तक पहुँचाने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

इसके अतिरिक्त हबीब ने भास के तीन नाटक दूतवाक्यम्, पचरात्रम् और और उरुभगम् का भी छत्तीसगढ़ी में रूपांतर किया और इन्हें प्रस्तुत किया। अनूदित नाटको में एक मात्र 'मिट्टी की गाडी' है। शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिक' का पहला अनुवाद हबीब ने सन् 1958 में किया और हिन्दुस्तानी

थियेटर के लिए उसका निर्देशन किया। सन् 1977 में उन्होंने इसका छत्तीसगढ़ी में रूपांतर किया और उसे खेला। मृच्छकटिक के अनुवाद और प्रस्तुति के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा पहले की जा चुकी है। प्रस्तुत प्रसंग में केवल इतना कहना अभीष्ट है कि मिट्टी की गाड़ी में अधिकांश पात्रों के प्रसंग में तो छत्तीसगढ़ी अनुकूल बैठी तथापि वसन्तसेना-चारुदत्त के प्रसंग में लोकभाषा ने पात्रों की सुप्रतिष्ठित और सुपरिचित गरिमा को व्याघात पहुँचाया, लोककलाकारों की जीवन्तता और ऊर्जा ने नाटक को ऊर्जामय तो बनाया पर नाटक और उसके प्रेम-प्रसंगों की कोमलता और कवित्व के आड़े आयी। स्वयं हबीब इस बात को स्वीकार करते हैं कि कवित्व का अनुवाद कठिन होता है और बड़े से बड़े अनुवादक यही कहते हैं कि मूल का सौंदर्य अनुवाद में नहीं आ पाया है। इस नाटक में हबीब ने एक और प्रयोग किया—शूद्रक द्वारा गद्य में लिखे गये सवादों के आधार पर गीतों की रचना सरल हिन्दी में करवाई और उन्हें गवाया। हबीब का यह नाटक और प्रस्तुति बहुत लोकप्रिय हुई और अभी भी इसका मंचन होता रहता है।

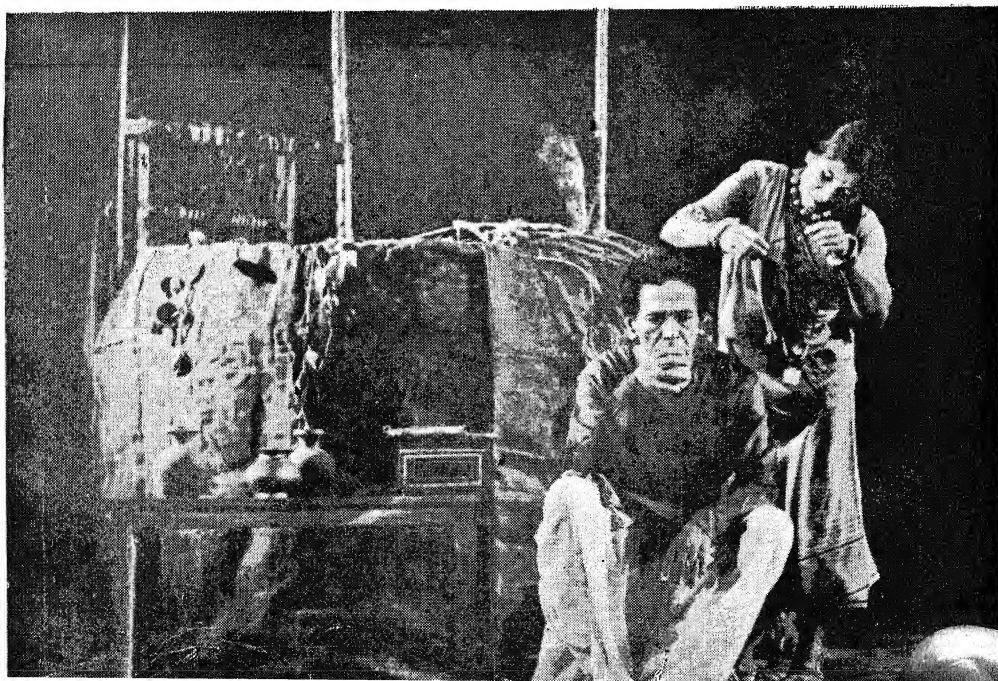




फिदाबाई और भुलवाराम/बहादुर कलारिन 1978

छायाचित्र : निमाई घोष, कलकत्ता

हबीब तनवीर और फिदाबाई/बहादुर कलारिन 1978







फिदाबाई/शाजापुर की शांतिबाई 1978

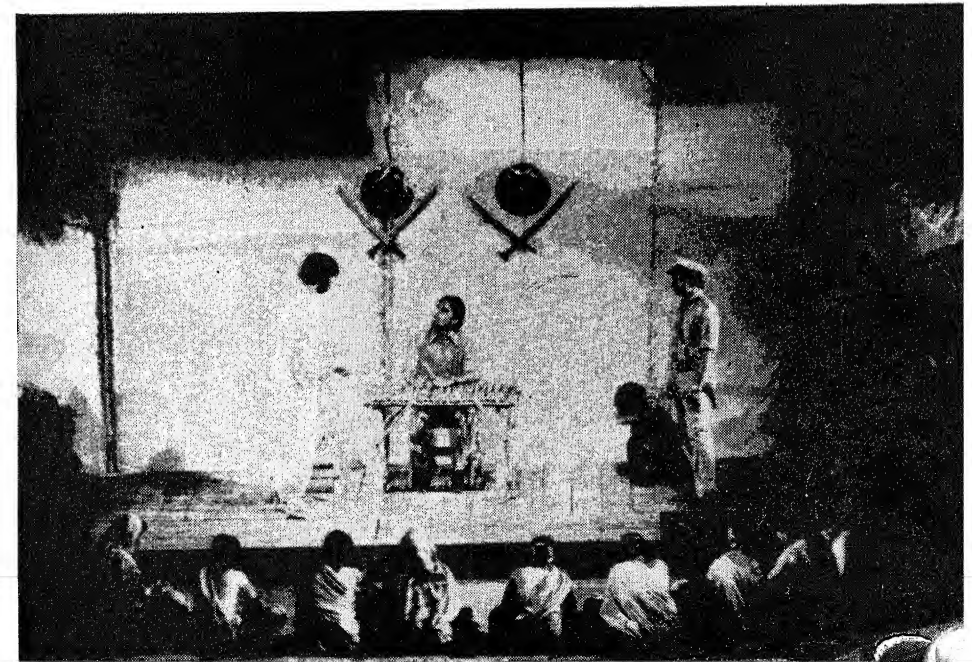
छायाचित्र : निमाई घोष, कलकत्ता

हबीब तनवीर और फिदाबाई/शाजापुर की शांतिबाई 1978



हिरमा की अमर कहानी 1985

हिरमा की अमर कहानी 1985



कलाकारों के क्वार्टर में  
रिहर्सल करवाते हुए  
हबीब तनवीर

छायाचित्र  
अविनाश पसरीचा, दिल्ली



जहाँ तक परिवार का सवाल है हबीब तनवीर खुशकिस्मत है कि मोनिका मिश्र के रूप में उन्हें ऐसी पत्नी मिली जो खुद थियेटर में बहुत रुचि रखती है। बातचीत के दौरान हबीब ने निस्मकोच स्वीकार किया कि वे जो इतना काम कर पाये उसकी वजह थी मोनिका जी का सहयोग और थियेटर में उनकी गहरी रुचि हबीब साहब के शब्दों में—

“मेरा तो ओढ़ना-बिछौना ही थियेटर है। यदि मेरी शादी किसी और से हुई होती जो थियेटर को स्वीकार नहीं कर पाती तो मेरे लिए थियेटर करना मुश्किल हो जाता। मैंने बहुतों को देखा है जो इस क्लेश के कारण या तो खुद टूट जाते हैं या फिर फैमिली टूट जाती है। मैंने यह नहीं देखा कि थियेटर में एक हो और दूसरा न हो। उससे जिंदगी में बड़ी बदमजगी आ जाती है। मैं समझता हूँ कि हमारी जो निभ पायी उसका एक बड़ा कारण थियेटर में मोनिका की गहरी दिलचस्पी है। इनका सबसे बड़ा योगदान यह है कि इन्होंने मुझे न केवल थियेटर करने की इजाजत दी वरन् हर काम में साथ रही, अभी भी रहती है। नाटक का स्क्रिप्ट तैयार होने से लेकर उसके स्टेज होने तक एक ओर ये काम की जिम्मेदारी सम्हालती है पूरी तो दूसरी ओर लगातार अपनी टिप्पणियों से मुझे रुकने और सोचने को मजबूर करती रहती है। किसी भी नाटक की जब रीडिंग शुरू होती है तो ये अमूमन कुछ दिन बैठती है और स्क्रिप्ट में जहाँ इन्हें खामिया लगती है, बताती चलती है। कुछ बातें तो मैं उसी समय मान लेता हूँ कुछ बाद में सोचने-विचारने के बाद। सब एक साथ कैसे मान लूँ, ईगो को मजूर नहीं होता न। कुछ नहीं भी मानता। इतना ही नहीं ये ग्रूपिंग वर्गैरह में भी बराबर सहायता करती है—इसे जरा दायें कर दो, उसे थोड़ा उस ओर। कई बार मुझे ताज्जुब होता कि इनमें इतना अच्छा ग्रूपिंग का सेस कैसे है? एक और बात है। कोई कितनी भी तारीफ करे, इन्हें यदि कोई चीज ठीक नहीं लगती तो ये उस भूल की ओर उ गली जरूर उठाती है, आम जनता की तारीफ में भूल नहीं जाती। अभी पिछले दिनों की बात है। मैं नये नाटक की

री स्ट्रक्चरिंग कर रहा था। इन्होंने साफ कहा कि तुम्हारे नाटक का थीम साफ नहीं है, तुम जो कहना चाह रहे हो वह नाटक से साफ उभरकर नहीं आ रहा है। यह जा रहा है किसी तरफ और तुम ले जाने की कोशिश कर रहे हो किसी और तरफ। मैं रुका, मैंने सोचा और मुझे लगा कि शायद इनकी बात ठीक है।”

अत्यंत आंतरिक और सहज भाव से कही गयी हबीब तनवीर की ये बातें एक ओर जहाँ मोनिका जी की गहरी सूक्ष्म और सक्रिय योगदान का इंगित देती हैं वहीं एक मुखी-संतुष्ट पारिवारिक जीवन का। इस प्रश्न के उत्तर में कि बाबा तुम्हें कितने अच्छे लगते हैं, बेटी नगीन का यह उत्तर कि ‘खाने में नमक जितना’ मुझे गहरे छू गया। मैं कुछ पल के लिए स्तब्ध हो गयी नगीन की उक्ति की गहराई पर, सहजता पर, उसके कवित्व पर। नमक न केवल खाने को स्वादिष्ट बनाता है वरन् वह शरीर के लिए आवश्यक है, शरीर के हर तत्व—आसू, खून, पसीना, प्रस्राव—में वह रहता है, उसके बिना जीवन चल नहीं सकता। मोनिका जी के प्रति हबीब के उद्गार, हबीब के प्रति नगीन के उद्गार और नगीन के स्वच्छंद विकास के लिए तनवीर दम्पति की तत्परता ने मेरी आँखों के सामने एक संतुलित, विवेकपूर्ण सुखी परिवार को मूर्त रूप में खड़ा कर दिया। रुकिए, नगीन की बात करने से पहले मोनिका जी की बातें हम पूरी कर ले।

मोनिका मिश्र का जन्म सन् 1930 में शिमला में हुआ। पिता सरकारी नौकरी में थे और उन दिनों गार्मियों में छ महीने भारत सरकार का कार्यालय शिमला में स्थानांतरित हो जाया करता था। उसी दौरान इनका जन्म हुआ। बंगाली मा-बाप की सतान होते हुए भी शिमला और दिल्ली में रहने के कारण मोनिका बहुत साफ हिन्दी बोलती हैं फिर भी उन्हें पूरा आत्मविश्वास नहीं, डर रहता है कोई शब्द गलत न निकल जाये। स्कूल की पढाई पूरी करके लाहौर के कनेट कालेज में पढने गयी। वहाँ की पढाई पूरी करके शिमला लौटी तो विदेश जाने के लिए स्कालरशिप मिल गया। स्कालरशिप मिला तो था पढाई के लिए लेकिन ऐन मौके पर मन बदल गया और पढाई के बदले थियेटर का कोर्स करने का तै कर लिया क्योंकि कोलोरैडो जहाँ ये जा रही थी वहाँ का ड्रामा विभाग प्रसिद्ध था। सो इन्होंने बिना हिचक ड्रामा विभाग में दाखिला ले लिया और दो साल प्रोडक्शन की ट्रेनिंग

ली। प्रोडक्शन अर्थात् सब कुछ की ट्रेनिंग—निर्देशन, सेट, लाइट, म्यूजिक, कास्ट्यूम। ट्रेनिंग पूरी हुई। एक बार वही रह जाने की सोचा पर इनके प्रोफेसर ने समझाया कि यहाँ रहकर क्या करोगी, स्वदेश लौट जाओ। उनकी बात मान मोनिकाजी भारत लौट आयी। कुछ दिनो बम्बई में अलकाजी साहब द्वारा खोली गयी अकादमी का काम सम्हाला फिर चली आयी दिल्ली हिन्दुस्तानी थियेटर में। बेगम जैदी ने हबीब के लिए सब कुछ तैयार कर रखा था पर वे योरोप में भटक रहे थे, लौटन का नाम ही नहीं ले रहे थे। बेगम जैदी और इतजार नहीं करना चाहती थी। उन्हें मोनिका जी के बारे में पता चला तो उन्हें बम्बई से दिल्ली बुला लिया। मोनिका जी भी आ गयी। वे बम्बई में बहुत खुश नहीं थी क्योंकि अलकाजी साहब के यहाँ सब काम अंग्रेजी में होता था। अंग्रेजी के कारण ही तो अमेरिका छोड़ा, दिल्ली से बम्बई आयी पर यहाँ भी वही तो निराशा हुई। वैसे बम्बई प्रवास के दौरान उन्होंने शातिवर्धन के लिटिल बैले ट्रूप में जगदीश चंद्र माथुर का नाटक कोणार्क किया। खुले में। एक पेड़ था, उसके इर्द-गिर्द चबूतरा सा बना था। उसे ही मंदिर का रूप दे दिया।

दिल्ली आकर मोनिका जी ने शकुंतला किया। बड़ी मेहनत से तैयारी करवायी। उस समय के दिल्ली के नौजवान कलाकार जो बाद में बड़े ऐक्टर-डायरेक्टर हुए, सभी शरीक हुए थे। सभी नौजवान थे अतः सबने पूरी मेहनत की। इसके बाद उठाया चार्लीज आठ। सब तैयारी हो गयी पर जब हुआ तो निर्देशक में नाम किसी और का दे दिया। मोनिकाजी के अनुसार—‘मुझे नौकरी से निकालना था इसलिए ऐसा किया गया क्योंकि तब तक हबीब लौटकर आ गये थे और बेगम जैदी उन्हें नियुक्त करना चाहती थी। मुझे बड़ा गुस्सा आया कि यह खूब रही। मैंने सोचा—देखू तो यह शख्स है कौन जिसने मेरी नौकरी छीनी है। तब तक मैंने गैरेज में एक छोटा सा थियेटर खोल लिया था। वैसे हबीब को इस सब के बारे में कोई जानकारी नहीं थी सो वे आराम से अपने काम में लग गये और मैं कुढ़ती रही। मैं सबके पास गयी, निर्मला जोशी के पास गयी कि मुझे कुछ काम दीजिए, मेरी मदद कीजिए पर किसी ने कुछ नहीं किया। खैर, यह करते-करते आठ-दस महीने निकल गये। हबीब ने ‘मिट्टी की गाड़ी’ किया पर उसके बाद बेगम जैदी से मनमुटाव हो गया, उन्होंने हिन्दुस्तानी थियेटर छोड़ दिया और आ गये मेरे गैरेज थियेटर में। हमलोगों ने वहाँ छोटे-छोटे नाटक किये सात पैसे,

जालीदार पर्दे, फासी। फिर गुड बॉय आफ सेतजुआ किया। पहले मैं निर्देशन करती थी पर हबीब के आ जाने के बाद मैंने अपने आपको उससे खींच लिया। मैंने अनुभव किया कि हबीब मुझसे स्मार्ट है, ज्यादा अच्छी तरह सब कुछ कर-करवा सकते हैं। फिर दोनों के बराबर से रहने पर क्लैश होता ही होता सो मैं बैंकग्राउंड में चली गयी। वही से जब जो जरूरत होती है, करती रहती हूँ। अरे, यह बनाना तो भूल ही गयी कि इस बीच सन् 1962 में हमने शादी कर ली पछोड़ी में। सन् 1964 में जन्म हुआ नगीन का। घर-गृहस्थी, बच्ची और फिर इनके कलाकारों की देख-रेख, उनकी हारी-बीमारी सब हमलोगों के जिम्मे रहती है। सब यही रहते हैं तो काफी समय उनके सुख-दुख को बाटने में लग जाता है। वैसे इनके नाटक के साथ पूरी तरह जुड़ी रहती हूँ। रीडिंग से लेकर शो तक। ड्रेस तो करती ही हूँ। नया थियेटर के बाहर नहीं के समान कुछ किया।”

इस प्रश्न के उत्तर में कि आपने अभिनय किन-किन नाटकों में किया मोनिकाजी बोली—“बहुत कम। हबीब ने कभी महत्वपूर्ण कुछ करवाया ही नहीं। हा, जब-जब तवायफ का रोल करना हुआ तो मुझे आगे कर दिया। कहते—अब इस तरह के रोल के लिए किससे कहूँ, तुम्ही कर लो न। और मैं कर लेती थी। असल में हमेशा से यही बड़ा मकसद रहा कि थियेटर हो इसलिए जब जो सामने आया कर दिया, कभी अच्छा बुरा सोचा ही नहीं। जो कुछ है, हम दोनों का है, उसे निभाना ही है। कभी-कभी झगडा होता है, गुस्सा आता है तो मैं छोड़कर जाने की बात करती हूँ। फिर सोचती हूँ साथ ले क्या जाऊंगी? जो कुछ है, अलग से अपना तो कुछ कभी रहा नहीं।”

इतनी देर से हबीब चुप बैठे बातें सुन रहे थे। अब उनसे नहीं रहा गया। बोले—“ये बहुत अच्छी अभिनेत्री है पर इन्हे हर वक्त अपनी हिन्दी से डर लगता रहता है इसलिए करती नहीं। इनका एक और पक्ष है जिसका जिक्र करना ये भूल गयी। सबसे पहले इन्हे कमला देवी चट्टोपाध्याय दिल्ली नाट्य सभ में ले गयी। वहा ये पूरी क्लास लेती थी। फिर माया राव थी यहा। उन्होंने एक इस्टीच्यूट ऑफ कोरियोग्राफी कर रखा था। उसमें ये ऐक्टर्स को माइम और इम्प्रोवाइजेशन सिखलाती थी। कोई कहानी दे दी, अब सब उसे अपने ढंग से प्रस्तुत करते थे। यह सब अमेरिकी ट्रेनिंग का



फल था। बड़ी दिलचस्प चीजे करवाती थी। मैं इनसे बराबर सलाह-मशविरा किया करता हूँ। जब भी कुछ इम्प्रोवाइज करना चाहता हूँ और रास्ता नहीं सूझता तो इनसे राय करता हूँ और ये बड़ा माकूल हल ढूँढ निकालती है।”

अब मोनिकाजी से चुप नहीं रहा गया। बोली—“सच पूछिए तो जो मैं वहाँ सीख कर आयी उसका पूरा लाभ हमारे थियेटर को नहीं मिला। यहाँ वह सुविधा ही नहीं है, साधन ही नहीं है। हमारे यहाँ दल के ऐक्टरो की अलग से तो ट्रेनिंग होती नहीं, नाटक के लिए जितना जरूरी है उतना सीख लेते हैं। हबीब अपने नाटको में रिहर्सल के दौरान बहुत बार इम्प्रोवाइजेशन करवाते हैं बाकी का यह सब तो वर्कशाप तक सीमित रहता है। हमारा थियेटर तो इतना साधारण हो गया है—जो कि होना चाहिए—कि विशेष कुछ चाहता नहीं।”

कहना कठिन है कि मोनिका जी सचमुच भापा के कारण हिचकिचाती है या क्लेश बचाने के लिए वे निर्देशन-अभिनय से अपने आपको दूर रखती है। बहरहाल यह सही है कि उन्होंने अपने आपको हबीब साहब और नया थियेटर की अभिभाविका बना लिया है और उसमें वे पूरी तरह रमी हुई है। बेरसराय के छोटे-छोटे तीन-चार फ्लैट आसपास है जिनमें तनवीर का परिवार और नया थियेटर के कलाकार रहते हैं। अत्यंत साधारण परिवेश पर अतरंगता से भरपूर, अपनी धरती की खुशबू से गमगम करता हुआ और नृत्य, संगीत तथा नाट्य कलाओं के अभ्यास से जीवन्त।



और इस परिवेश को सहज सुखमय बनानेवाली बेटी नगीन । सन् 1964 में जन्म हुआ और उसने सबसे होश सम्हाला तबसे अपने को रिहर्सल रूम या ग्रीनरूम में पाया । बड़े सहज भाव से बचपन की बातें करती नगीन जैसे उन दिनों को फिर से जीने लगी—“बचपन में अम्मा-बाबा के साथ रिहर्सल में जाया करती थी । मुझे नींद आने लगती तो अम्मा वही सुला देती और लौटते समय साथ लाती । बचपन की दो औरतों की मुझे बहुत साफ याद है—फुलू और जानकी । इन लोगों को बाबा ‘गाँव का नाम ससुराल’ के समय लाये थे गांव से । और भी कई औरतें थी मोहनी, दसरी, सुशीला । पर मुझे फुलू और जानकी बहुत अच्छी लगती थी और वे दोनों भी मुझे बहुत प्यार करती थी । ये अभिनय तो नहीं करती थी पर नाचती-गाती खूब थी—सूआ नाच और सूआ गीत, करमा, दधैया, गौरा-गौरी की पूजा के गीत, दुर्गा देवी के गीत । मुझे बहुत अच्छे लगते थे । उनके साथ-साथ गाकर ही तो मैंने सीखे ये गीत ।”

मैं मन्त्रमुग्ध सी सुन रही थी नगीन की बातें जो बच्चों जैसे निर्मल भाव से कही जा रही थी । एक और बात लगी कि यह लड़की अपनी घरती से बहुत गहराई से जुड़ी है—अपने माता-पिता से अधिक । मा तो उस जमाने के सरकारी अफसर की सतान, दो साल अमेरिका रहकर आयी हुई—उनमें एक तरह का आभिजात्य है । हबीब साहब छत्तीसगढ़ प्रदेश के जरूर है पर होश सम्हालने के बाद से नागपुर, बम्बई, दिल्ली, इंग्लैंड-यूरोप और दिल्ली में रहे । उनमें आभिजात्य थोड़ा कम हो सकता है क्योंकि बड़े शहरों में रहते हुए भी उनका काफी समय छत्तीसगढ़ या उसके लोगों के साथ गुजरता है पर यह लड़की तो पूरी तरह फुलू और जानकी के रंग में रंगी थी । इसका उठना-बैठना, बोलना-चालना, भाषा सबसे छत्तीसगढ़ की खुशबू आ रही थी । विशुद्ध छत्तीसगढ़ी उच्चारण के साथ उसने चार-पाच देवी के गीत के कुछ-कुछ अंश गाकर सुनाए । साथ-साथ पक्तियों का अर्थ भी बताती गयी—किसी शुभ अवसर पर शुरू में इसी तरह मंगलकामना के निमित्त देवी के गीत गाये जाते हैं । इसने गाने सीधे छत्तीसगढ़ वालों से सीखे, वे नाच का अभ्यास भी इससे करवाया करते थे । नगीन बोली—‘मुझे तो उन लोगों का खाना भी बहुत पसंद था । मैं तो अक्सर उनके साथ खाया करती थी । एक बार अम्मा ने मुझे धोखा देना चाहा । वे लोग तामचीनी के बर्तन में खाया करते थे । एक दिन मैं स्कूल से आयी तो अम्मा ने मुझसे कहा—तेरे



लिए सब्जी आयी है, खा ले। मैं तो मुह में कौर डालते ही समझ गयी कि घर की सब्जी तामचीन के बर्तन में डालकर अम्मा मुझे बुझू बनाना चाह रही है। इसमें वह स्वाद ही नहीं।”

नगीन को गाने में बहुत रुचि है पर अभिनय में नहीं। छोटी उम्र में ही एक ओर लोक कलाकारों से लोकगीत सीखे और दूसरी ओर बाकायदा शास्त्रीय सगीत की तालीम ली। बड़ौदा जाकर सगीत में बी० ए० किया और अब एम० म्यूज० कर रही है। साथ ही सुलोचना यजुर्वेदी से शास्त्रीय सगीत की तालीम ले रही है। पर अभिनय ? उससे वह बहुत घबडाती है। नाचना-गाना तो फिर भी कर ले पर अभिनय से वह कोसों दूर रहना चाहती है। कहती है—डायलाग बोलने में मुझे बहुत हिचकिचाहट होती है, सकोच होता है। मंच पर उतरी है कई बार पर या तो जब छोटी थी तब या फिर मजबूरी में। सबसे पहले किया टेमिंग आफ दी श्रू में—उम्र रही होगी दो-तीन साल। याद भी नहीं। आगरा बाजार में बदर की भूमिका की। थोड़ी बड़ी होने पर नवाब की नवासी का रोल किया। उसके बाद किया शाजापुर की शातिवाई में सन् 1978 में। शाजापुर की बात आते ही बोली—“मुझे बहुत अच्छी तरह याद है, बाबा ने बहुत डाटा था कि मुझे गाना क्यों नहीं याद हो रहा, इसको मीटर में लाओ। मैं मीटर नहीं पकड़ पा रही थी, एक घट तक डाट पड़ी थी।” ‘कुशितया का चपरासी’ में भी एक गरीब भूखी लड़की का रोल किया पर उसका रुझान सगीत की ओर था। वह बोली—“आदमी को वही काम करना चाहिए जो वह अच्छी तरह कर सके। मैं जानती थी कि मैं कभी डायलाग अच्छी तरह नहीं बोल सकूंगी। इसलिए कभी ऐक्टिंग करने का मन नहीं हुआ पर सगीत में लगता था और अभी भी लगता है कि मैं कुछ कर सकती हूँ तो करने का मन करता है। अम्मा-बाबा मुझे बराबर सगीत की सभाओं में ले जाया करते थे। मुझे बेगम अख्तर की बहुत अच्छी तरह याद है—गालिब आडिटोरियम में प्रोग्राम था, हम सब गये थे। बेगम अख्तर खुद हारमोनियम बजाकर गाती थी, बगल में पानदान। पानदान से पान निकालकर खाती और गाना गाती। कुमार गंधर्व को सुना था, सगीत के आगे मेरे लिए और सब कुछ गौण है।” नगीन ने यह भी बतलाया कि कैसे देवीलाल हारमोनियम और अमरदास या गोविन्द तबला बजाते थे और वह नाच का अभ्यास करती थी।

और स्मृति । जबरदस्त । कौन सा नाटक किस सन् या किस महीने में हुआ, इतना ही नहीं वह आपको सही तारीख भी बतलाती जायेगी । नाटक का नाम आया—नगीन किस सन् में हुआ यह ? नगीन का सटीक उत्तर हाजिर । इस बातचीत के दौरान हमलोगों ने उसका नाम कम्प्यूटर रख दिया था—आगे-पीछे की घटना, कलाकारों के नाम सब उसकी स्मृति में सुरक्षित है ।

हबीब तनवीर को जीवन में मान-सम्मान प्रयाप्त मिले । अकादमी अवार्ड और राज्यसभा की सदस्यता की बात पहले की जा चुकी है । सन् 1982 में उन्हें पद्मश्री से विभूषित किया गया । इसी साल उन्हें चरनदास चौर के लिए एडिनबरा इंटरनेशनल ड्रामा फेस्टिवल में फ्रिज फर्स्ट अवार्ड मिला । सन् 1983 में इंदिरा कला विश्वविद्यालय, खैरागढ़ द्वारा डी० लिट० की उपाधि, सन् 1984 में मध्यप्रदेश सरकार द्वारा शिखर सम्मान की प्राप्ति, 1985 में नादीकार कलकत्ता तथा उर्दू अकादमी के अवार्ड, सन् 1990 में मध्यप्रदेश द्वारा प्रदत्त कालिदास सम्मान एवं साहित्य कला परिषद् दिल्ली द्वारा प्रदत्त निर्देशन का पुरस्कार उनके काम के महत्व का स्वीकार है । सन् 1982-84 के बीच उन्होंने नेहरू फेलोशिप के अंतर्गत बस्ती और छत्तीसगढ़ के आदिवासियों के सामूहिक एवं व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन किया । सन् 1969 में ऑर्गनाइजेशन आफ अडरस्टैंडिंग एंड फूटरनिटी द्वारा नया थियेटर को प्राप्त बलराज साहनी हारमनी अवार्ड भी वास्तव में हबीब तनवीर का ही प्राप्य था ।

व्यक्ति हबीब तनवीर के व्यक्तित्व और कृतित्व का सन् 1990 तक का लेखा-जोखा यही समाप्त होता है । यह लेखा-जोखा स्वयं उनके द्वारा कही या लिखी गयी बातों और उनके या उनकी प्रस्तुतियों के सम्बन्ध में दूसरों द्वारा कही गयी बातों पर आधारित है, मेरी बातें तो हैं ही । समय रूप में देखने पर हम पाते हैं कि हबीब तनवीर ने अपने नाट्यजीवन का प्रारंभ राजनीतिक

प्रतिबद्धता के साथ किया था जो कालांतर में विस्तार पाकर सहज मानवीय प्रतिबद्धता के रूप में स्थित हो गया। हबीब ने अपना सारा जीवन आम आदमियों के साथ, उनके जीवन, उनकी समस्याओं का सहभागी बनते हुए गुजारा, अभी भी गुजार रहे हैं। उन्होंने कभी अपने लिए अतिरिक्त सुविधा नहीं चाही। आज भी डी० डी० ए० के बहुत साधारण क्वार्टर में रहते हैं वैसे ही जैसे नया थियेटर के और कलाकार रहते हैं। अपने देश के सभी मान-सम्मान उन्हें मिले, विदेशों के भी मिले जिन्हें हबीब तनवीर ने अत्यंत सहज रूप में स्वीकार किया, उनके कारण न उन्होंने घमंड का अनुभव किया न ही किसी तरह उनसे उनका रहन-सहन प्रभावित हुआ। हबीब ने वास्तव में एक कवि-हृदय पाया है जो संवेदनशील है दूसरों के प्रति संवेदनशील है, जो समानता के सिद्धांत में केवल विश्वास ही नहीं करता बल्कि व्यवहार में उन पर अमल भी करता है। स्वभाव से बहुत व्यवस्थित नहीं है फिर काम का दबाव हर समय रहता है इसलिए बहुत बार लोगों को शिकायत रहती है कि उन्होंने यह नहीं किया या उन्हें यह और करना चाहिए था पर दूसरों की अपेक्षाओं का तो अंत नहीं खासकर उनसे जो समर्थ होते हैं। हम चाहते हैं कि हमें उनसे और बहुत कुछ मिले, सदा मिलता रहे। 1 सितम्बर सन् 1993 को वे सत्तर वर्ष के पूरे हुए, अभी भी सक्रिय हैं, पिछले दिनों ही अपने मौलिक नाटक 'देख रहे हैं नयन' का मंचन किया है। सभा-समितियों-गोष्ठियों में बराबर भाग लेते रहते हैं, देश-विदेश का भ्रमण करते रहते हैं। कवि नाट्यकार-निर्देशक-अभिनेता हबीब तनवीर ने भारतीय रंगमंच को जिस रूप में समृद्ध किया, वह विशेष उल्लेखनीय है। पश्चिम से आयातित आधुनिक भारतीय रंगमंच को उन्होंने भारतीय परम्परा और भारतीय जनजीवन से जोड़ने का अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य बड़ी सहृदयता, दक्षता और सूक्ष्मबुद्धि के साथ किया। अपने इस अवदान के लिए वे सदा सादर स्मरण किये जायेंगे।



# परिशिष्ट

हबीब तनवीर

की

रचनाएँ

साक्षात्कार

---

हिन्दी	117
--------	-----

अंग्रेजी	153
----------	-----

---

जीवन-विवरणिका	227
---------------	-----

अनुक्रम	पृष्ठ
दृश्याकन की समस्या	117
पारसी थियेटर के नाटक : आज के वातावरण मे	123
विभु कुमार द्वारा साक्षात्कार	131
गीत, नज्मे व गजल	145

## दृश्यांकन की समस्या

रगमच का दृश्यांकन विशेषज्ञता की कला है। हमारे देश में जहाँ रगमच का पूरा विकास अभी नहीं हुआ है, दृश्यांकनकार भी पूरी तरह सामने नहीं आ सका है। दृश्यांकन किसी कमरे को सजाने का नाम नहीं है, जैसा हमारे शौकिया रगमच में प्रायः लगता है। न ही वह चित्रकला का दूसरा नाम है। 1957 में कैकाव (पोलैंड) में मैंने आनुई के नाटक 'एटिंगनी' के रगमच पर पोलिश दृश्यांकनकार द्वारा, जो एक विख्यात चित्रकार भी था, बड़े-बड़े अमूर्त चित्र देखे। चित्रों के रूप में वे, निश्चय ही बड़े दिलचस्प थे, पर शायद कुछ आवश्यकता से अधिक दिलचस्प थे क्योंकि वे निरंतर ध्यान अपनी ओर खींचते थे और इस प्रकार नाटक के प्रभाव को नष्ट करते थे।

फिर भी दृश्यांकन चित्रकला और वास्तुकला दोनों से ही जुड़ा हुआ है। साथ ही उसके लिए रगमच और नाटक का ज्ञान भी जरूरी है। वास्तव में दृश्यांकन का रूप नाटक की बुनियादी जरूरतों से निर्धारित होना चाहिए। दृश्यांकन के लिए निस्संदेह अच्छे चित्रकार की आवश्यकता होती है। पर आम तौर पर चित्रकार अपनी कला को प्रधानता देकर नाटक को उसके अधीन बना देते हैं। यह स्थिति हर जगह ही है। हमारे देश में विशेष रूप से है क्योंकि यहाँ दृश्यांकनकार का कोई यथार्थ अस्तित्व ही अभी नहीं है। इस

लिए यहाँ यह जरूरत है कि पहले खुद निर्देशक ही अपने दृश्यबध की परिकल्पना करे। कम से कम उसे अपने दृश्याकनकार को हमेशा नियंत्रण में रखकर उसका दिशादर्शन करना चाहिए। मेरा अनुभव है कि दृश्याकनकार प्रायः निर्देशक के विचारों का स्वागत नहीं करता। पर तीन-चार नाटकों में मेरे साथ काम कर लेने के बाद यह संभव हो सका है कि दृश्याकनकार के विचारों से मुझे प्रेरणा मिली और मेरे विचार दृश्याकनकार की प्रेरणा के अनुरूप सिद्ध हुए।

1958 में जब मैंने 'मिट्टी की गाड़ी' प्रस्तुत किया तो प्रारंभ में मेरा दृश्याकनकार मुझसे बड़ा असंतुष्ट था क्योंकि मैं इस नाटक के लिए मंच के बीचोबीच एक इंच ऊँचे गोल चबूतरे और तटस्थ रंग के एक 'सराउंड' के अतिरिक्त, जिससे अभिनेताओं को सात प्रवेश मिल सके, और कुछ नहीं चाहता था। दृश्याकनकार की धारणा थी कि इस नाटक का दृश्याकन और भी कई तरह से अच्छा हो सकता है। इसके विपरीत मेरी धारणा थी कि इस नाटक के लिए अधिक से अधिक खाली, खुला और बिना सजावट का मंच ही सबसे उपयुक्त होगा। इससे भिन्न किसी भी प्रकार का दृश्याकन नाटक की शैली, उसके गतिविधान के स्वरूप में बाधा डालेगा। इसके बाद दृश्याकनकार ने कहा कि 'सराउंड' के गोल चबूतरे को ही शायद अधिक सजावटपूर्ण किया जा सकता है। मुझे इसमें भी सदेह था। नाटक अपने आप में ही बहुत अलंकारपूर्ण तथा उसकी वेशभूषा बहुत ही रंगीन है। ये चीजें अधिक से अधिक सादी पृष्ठभूमि में ही ठीक से उभर सकती थीं। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि केवल ऐसे सादे दृश्यबध में ही नाटक के संवाद और उनकी सुंदर बिंब-योजनाएँ पूरी अभिव्यक्ति पा सकती थीं। दृश्यबध में सजावट बढ़ाना अत्यंत मीठे शहद में चीनी मिलाने-जैसा होता।

किंतु जब 1960 में मैंने आगा हश्र का 'रुस्तम सोहराब' प्रस्तुत किया तो दृश्याकनकार और मेरे बीच विचारों में अधिक सगति थी। यह दृश्याकनकार मेरे साथ पहले कोई चार नाटकों में काम कर चुका था, इसलिए वह मेरी बात समझता था। मैंने उससे कहा कि इस नाटक के लिए एक साथ ही तीन तत्वों को उभारना आवश्यक है। एक तो पारसी रंगमंच की कुछ झलक, जिसके लिए रंगमंच के बीचोबीच कुछ कोनेदार चबूतरे के ऊपर रंगे हुए परदे गिराए जा सकते थे, जिससे मंचक्षेत्र अलग-अलग निर्धारित हो सके और दृश्यों के परिवर्तन में आसानी हो; दूसरे, रंगे हुए पर्दों, वस्त्रों और

अन्य मचीय उपकरणों में पुराने ईरानी अभिप्राय (motif) डालकर प्राचीन ईरान की झलक, और तीसरे, चित्तो, रंगो, शैली और आकृतियों में आधुनिक प्रभाव। मेरे इन विचारों ने दृश्याकनकार विस्फुल्लसागर को बड़ी प्रेरणा दी और उसने इस काम को पूरा भी बहुत योग्यता से किया। उसने कीमती तेल-रंगों का उपयोग किया, हरे, भूरे, नीले और बंगनी रंगों को सुनहली, रुपहली और सफेद रेखाओं से अंकित किया, वेशभूषा के लिए टाट को रगकर इस्तेमाल किया और तलवारों, ढालों, सिंहासनो और परदों को भी रंगा। और इस सब में—वेशभूषा, दृश्यबद्ध और उपकरणों में—कुल मिलाकर आठ सौ रुपये से अधिक नहीं लगे। वास्तव में रंगमंच के दृश्याकन में किफायत और व्यापक सुनियोजन बहुत ही आवश्यक है, खासकर भारत के रंगमंच की परिस्थितियों में तो यह सर्वथा अनिवार्य है।

‘रुस्तम सोहराब’ में चबूतरे के अलग-अलग हिस्से इस तरह बनाए गए थे कि उनका उपयोग मोलियर के बुर्जुआ जेटलमेन के उर्दू रूपांतर मिर्जा शोहरत के लिए भी एक अलग ही प्रकार और आकृति के चबूतरे के रूप में हो सके। यह नाटक भी मैं उन्हीं दिनों कर रहा था। इस रूपांतर की पृष्ठभूमि हैदराबाद थी। इसलिए इसमें उस चबूतरे के पीछे हैदराबादी शैली की मेहराब भी खड़ी कर दी गई थी और उस अकेले दृश्यबद्ध से नाटक के सारे दृश्यों का काम चल गया था।

एक अर्थ में रंगमंच के दृश्याकनकार का काम चित्रकार अथवा वास्तुकार से कहीं अधिक जटिल है। नाटक में मचीय भ्रम उत्पन्न करने के लिए प्रकाश-व्यवस्था, दृश्य-रेखा और सामग्री की बनावट और भार इत्यादि से सबधित व्यावहारिक बातों पर ध्यान रखना इतना आवश्यक हो जाता है कि रंगमंच का दृश्याकन अन्य कलाओं से बिल्कुल भिन्न हो जाता है।

उदाहरण के लिए, यदि रंगमंच पर कोई ड्राइंग रूम प्रस्तुत करना है तो इस बात से विशेष तकनीकी और सौंदर्य संबंधी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं कि चौथी दीवार अदृश्य ही रहती है। यथार्थवादी दृश्यबद्ध में भी कमरे का तीनों दीवारों के कोण अथवा अनुपात पूरी तरह यथार्थवादी नहीं रह सकते, क्योंकि यह आवश्यक है कि वे दिखाई पड़े और देखने में अच्छे भी लगे। साथ ही दृश्याकनकार को वास्तुकला का इतना पर्याप्त ज्ञान तो होना ही चाहिए कि वह समस्त अदृश्य इमारत का और कभी-कभी उसके पास-पड़ोस को भी यथार्थ रूप में अपनी आँखों के आगे मूर्त कर सके। इसके बिना ड्राइंग रूम का सबसे उपयुक्त अंश रंगमंच पर प्रस्तुत करना और उसके अनुपात को



रंगमंच की आवश्यकताओं के अनुसार बदल सकना ठीक से संभव नहीं हो सकेगा ।

इसके अतिरिक्त दृश्याकनकार की सामग्री भी चित्रकार और वास्तुकार से बहुत भिन्न होती है । रंगमंच पर उपयोग में आने वाली सामग्री हल्की, लाने-लेजाने के लिए सुविधाजनक, और इस तरह की होनी चाहिए कि उसकी सतह प्रकाश को सोख सके । इसीलिए दृश्याकनकार को निरंतर नई-नई सामग्री के साथ प्रयोग करते रहना पड़ता है । अन्य देशों में रंगमंच के लिए उपयोगी नई-नई सामग्री का निरंतर आविष्कार होता रहा है और विशेषज्ञ उन्हें तैयार करके बेचते भी हैं । इसलिए उन देशों में इन सबके लिए बहुत-से रंगमंचीय व्यवसाय बन गए हैं । इस कारण ही जिन देशों में व्यवसायी रंगमंच बहुत विकसित हो चुका है, वहाँ निर्देशक और दृश्याकनकार को दृश्यबोध के लिए उपयोगी सामग्री से संबंधित बहुत-से अनावश्यक प्रयोगों की जरूरत नहीं पड़ती । पर हमारे देश में तो इन समस्याओं के लिए अधिकतम कल्पनाशीलता और प्रयोगशीलता की जरूरत होती है ।

1957 में मेरे नाटक 'सात पैसे' में विद्यासागर ने एक किनारे पर बल्ली और दूसरे किनारे पर लकड़ी के बक्सों से बनी हुई आलमारी के साथ एक रस्सी बाँधकर एक बड़ा दिलचस्प प्रभाव उत्पन्न किया । पीछे रंगशीर्ष में उसने बाँस का एक दरवाजा बनाया और धीरे-धीरे गहरे जलीय रंगों से रंगकर टाट लटका दिया । इस दृश्यबोध से आवश्यक वातावरण उत्पन्न हो गया था और इसकी कीमत कुल बारह रुपए थी । 1962 में पंचमढी में विश्व-विद्यालयों के प्रशिक्षार्थियों के एक प्रशिक्षण शिविर में मैंने ब्रेश्ट का 'सेत्जुआन की भली स्त्री' नामक नाटक प्रस्तुत किया । उसके दृश्यबोध में कुल ढाई सौ रुपए खर्च पड़े थे । कई धरातलों के इस व्यंजनपूर्ण यथार्थवादी दृश्यबोध को बनाने में अधिकांश लकड़ी का प्रयोग किया गया था और उसके लिए स्थानीय स्कूलों की मेजें, तख्त और बेचे भी काम में लाई गई थी । इस सूक्ष्म-बुद्धि का सबसे दिलचस्प परिणाम यह हुआ था कि रंगशाला के एक किनारे पर रंगमंच को बढ़ाकर तीनों देवालियों के लिए एक रास्ता तैयार किया गया था जो जापानी काबुकी रंगमंच-जैसा दिखाई पड़ता था ।

पंचमढी शिविर में 'सेत्जुआन की भली स्त्री' के दृश्यबोध का रूप सबसे अंत में तैयार हुआ क्योंकि बहुत दिनों तक यह न निश्चित हो सका था कि नाटक कहा खेला जाएगा । पर साधारणतः नाटक की प्रस्तुति में दृश्यबोध सबसे पहले तैयार करना चाहिए । उसी से प्रस्तुति की शैली और उसका गतिविधान तैयार होता

है, यद्यपि यह भी उतना ही सही है कि दृश्यबंध बहुत हद तक नाटक की शैली से निर्धारित होता है ।

पर नाटक की व्याख्या कई प्रकार से हो सकती है । मैंने अपना नाटक 'जालीदार पर्दे' 1952 में बंबई में यथार्थवादी दृश्यबंध पर कामदी के रूप में किया था, पर उसी को 1959 में दिल्ली और शिमला में विशुद्ध प्रहसन के रूप में खेला, जिसमें दरवाजे और खिड़की के एक-एक रीतिबद्ध चौखटे का प्रयोग किया । और यद्यपि प्रहसन के रूप में नाटक अधिक खुला फिर भी बाद में दृश्यबंध मुझे कुछ अजीब लगता रहा । इसी प्रकार मेरे नाटक 'शतरज के मोहरे' में, जो 1951, 1954 और 1960 में बंबई, हैदराबाद, अलीगढ़ और दिल्ली में प्रस्तुत किया गया, मंच-रूपरेखा अलग-अलग बनती रही है । शुरू में उसे धरातलो के बिना प्रस्तुत किया गया था और हमने पहले अंक में मंच को दो कमरों में बाँट दिया था जिनमें व्यापार एक साथ ही चलता था । पर पाँच साल पहले दिल्ली में धरातलो का उपयोग करने पर नाटक अधिक सफल हुआ । उन्हीं धरातलो को अलग-अलग सजाने से दृश्यबंध को जल्दी से तीन बार बदला जा सका जो हर बार नया दिखाई पड़ा । इस व्यवस्था में पहले अंक में मंच को बाँटे बिना ही व्यापार एक साथ और पूरी तरह दृष्टिगोचर हो सका । इस दृश्यबंध पर हमारे दो सौ रुपए खर्च पड़े थे ।

वास्तव में हर नाटक में एक ऐसा निहित तत्त्व होता है जिसे ध्यान में रखकर ही दृश्यबंध पर विचार करना चाहिए । जैसे इव्सन के नाटक अपने यथार्थवादी परिवेश से इतने जुड़े होते हैं कि उसके बिना नाटक सजीव नहीं हो सकता । उदाहरण के लिए, प्रेत में अग्निकांड का दृश्य स्थापित हुए बिना नाटक का पूरा प्रभाव नहीं प्रगट होगा । शाँ और चेखव भी इसी कोटि के नाटककार हैं ।

पर बर्तोल्त ब्रेष्ट के नाटकों के लिए दृश्यबंध की समस्या कहीं अधिक जटिल है । एक ओर वह दैनंदिन यथार्थ की दुनिया से भाव-निरपेक्षता स्थापित करने के लिए रूपवाद की माँग करते हैं, और दूसरी ओर पात्रों के तात्कालिक भौतिक परिवेश की वास्तविकता प्रकट करने के लिए यथार्थवाद की । क्योंकि इन नाटकों का उद्देश्य दर्शकों को किसी भावानुभूति में डुबाना नहीं, बल्कि जीवन के रगमचीय रूप का विश्लेषण करके उससे निष्कर्ष निकालने के लिए प्रवृत्त करना है ।

शेक्सपियर अथवा मोलियर के नाटकों में दृश्य पात्रों के प्रवेश से शुरू होता है और उनके प्रस्थान के साथ समाप्त । इस प्रकार एक ही रगमचीय

क्षेत्र विभिन्न नाटकीय स्थलों को सूचित करता है। इस तरह के नाटको में प्रत्येक दृश्य का विस्तृत रूपायन नाटक की आत्मा के विरुद्ध होगा। इसका एक और भी कारण है। इन नाटको में परिवेश का बड़ा सजीव वर्णन रहता है, इसलिए उनका दृश्यरूप प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं। ऐसे नाटको में यथार्थवादी मंचसज्जा करने से नाटक की गति में पल-पल में बाधा पड़ती है। शेक्सपियर के नाटको के लिए तो सबसे उपयोगी उपाय है धरातलो का उपयोग।

धरातल यूनानी नाटको के लिए भी बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं, यद्यपि यूनानी नाटको में कोई दृश्यबोध नहीं होता था। यूनानी नाटक में जीवन की त्रासदी तथा कामदी-मूलक अनुभूति को अभिव्यक्त किया गया है। इसलिए उसका भौतिक परिवेश समस्त जगत है। यूनानी नाटक की विषयवस्तु है मनुष्य और जगत। इसलिए अधिक समय में ही यूनानी नाटक के दृश्यबोध की कुजी है। यही सिद्धांत बहुत-से आधुनिक नाटको के लिए, विशेषकर सगतिहीन धारा के नाटको के लिए भी, सही है। ऐसे नाटको की विषयवस्तु भी रूपवादी ढंग के कठोर दृश्यबोध द्वारा ही ठीक से अभिव्यक्त हो सकती है।

संस्कृत नाटक में देश-काल की परिकल्पना एकदम भिन्न प्रकार की है। उसमें ये दोनों ही नाटक के रस के अधीन हैं और मुख्य वस्तु भाव की अन्विति है। इस कारण, तथा और भी कई कारणों से, प्राचीन संस्कृत नाटको के लिए यथार्थवादी परिवेश की रचना अनावश्यक है। बल्कि संस्कृत नाटक में इतने दृश्य और स्थल होते हैं कि उन सबको मूर्त रूप में रंगमंच पर प्रस्तुत कर सकना लगभग असंभव है। यह आवश्यक भी नहीं, क्योंकि अनिवार्य रूप से नाटककार प्रत्येक दृश्य को अपने काव्य के जादू से मूर्त करता ही है। ये शब्दचित्र इतने विशद और प्रभावशाली होते हैं कि प्रत्येक दृश्य की रचना न केवल अनावश्यक है, बल्कि उस चित्र का भौतिक रूप प्रस्तुत करने का परिश्रम निरर्थक है। इसलिए संस्कृत नाटक का दृश्यबोध सदा प्रतीकात्मक, सादा और बहु-प्रयोजनीय होना चाहिए।

( नटरंग, अंक 2 )

## पारसी थिएटर के नाटक : आज के वातावरण में

‘दुनिया—मक्कारो अवलाफरेब दुनिया’—इन शब्दों से वह नाटक शुरू होता था। नाटक का नाम था गौहरेअफलास उर्फ पालिशवाला। यह 1935 या 1936 की बात है। नाटक हमारे फारसी शिक्षक ने लिखा था। लारी म्युनिसिपल हाई स्कूल रायपुर के सालाना जलसे का मौका था। मैं उस नाटक का हीरो था और मेरे दोस्त अजीज हामिद मदनी मेरे उस सरक्षक का पार्ट कर रहे थे जो मुझे अपने पैसे से शिक्षा के लिए विलायत भेजते हैं, अपनी लड़की से मेरी शादी कराते हैं, और मुझे एक बूट पालिश करनेवाले की आजाद जिन्दगी से बचाकर एक सूट-बूट पहननेवाला आई० सी० एस० अफसर बना देते हैं। मेरी उम्र उस वक्त कोई दस-बारह साल थी। बाद में जब अपनी इस पहली कारगुजारी पर सोचने का मुझे मौका मिला तो मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि हमारे फारसी शिक्षक के नाटक में, हमारे ड्रिल मास्टर के निर्देशन में, और हम सब के अभिनय में, पारसी थिएटर का गहरा असर था।

हिन्दुस्तान के हर शहर में बगाली ज़रूर मिलेंगे और जिस शहर में बगाली होते हैं वहाँ कालीबाड़ी ज़रूर होती है और दुर्गापूजा के जमाने में कालीबाड़ी में नाटक ज़रूर खेले जाते हैं। मध्य प्रदेश के इस शहर रायपुर की

कालीबाड़ी में भी नाटक होते थे और साल में सिर्फ एक बार नहीं, बल्कि अक्सर होते थे और सिर्फ बगला में नहीं उर्दू में भी। मेरे बड़े भाई इस थिएटर में अक्सर पार्ट करते थे और जनाना पार्ट करने में माहिर थे। मैंने उनके बहुत से नाटक देखे। लेकिन एक नाटक जिसके बहुत से दृश्य अब तक मेरे मन में सुरक्षित हैं, वह था हाफिज अब्दुल्ला का लिखा हुआ 'मुहब्बत का फूल'। इस नाटक के हीरो जॉबाज की मुसीबतें मुझे देखी नहीं जाती थीं। खास तौर से वह दृश्य जहाँ वह कैद में होता है और उसकी प्रेयसी उससे जेल में मिलने जाती है, और बहुत रोती है। मैं जानता था कि ये भाईजान है जो हिचकियाँ ले-लेकर औरतो की तरह रो रहे हैं, और इस अहसास से मेरे दिल पर इस दृश्य का ज्यादा असर होता था और खुद मेरी आँखें डबडबा आती थीं। मैं यह नाटक देखने अक्सर जाता और इस स्थल पर पहुँचकर हमेशा रो देता। नबी दर्जी जो भाईजान के दोस्त थे और हमारे ही मुहल्ले में रहते थे, मुझे देखकर हँस देते, और यह कहकर चिढ़ाते, 'क्यों बच्चा, भाईजान को 'मुहब्बत का फूल' में देखकर कैसे रोते थे।' यह मजाक का सिलसिला जब तक नबी दर्जी जिन्दा थे जारी रहा। दस-पन्द्रह बरस का जमाना बीत जाने के बाद भी वह इस बात को याद करके खुश हो जाते थे। यानी साल-दो साल बाद जब भी मैं वापिस घर जाता, नागपुर से, अलीगढ़ से, और बाद में बम्बई से, और उस गली से गुजरता जहाँ नबी दर्जी की दुकान थी, तो वह मुझे ज़रूर अपनी दुकान पर बुलाते, चाय पिलाते और अपने दोस्तों के सामने उस बात को दोहराकर हँसी से लोट-पोट हो जाते।

भाईजान मर गये। नबी दर्जी मर गये। जो साहब जॉबाज का पार्ट किया करते थे वह भी मर गये। और रायपुर का वह बहुत लम्बे कद का बंगाली अभिनेता, जो औरतो के पार्ट में और भी ज्यादा लम्बा लगता था, वह अब न जाने कहाँ है। अगर जिन्दा होगा तो बूढ़ा हो गया होगा और आज अगर वह मुझे कहीं मिल जाये, तो शायद मैं उसे पहचान भी न सकूँगा।

1960 में जब मैंने आगा हश्व के नाटक 'रुस्तम सोहराब' को आधुनिक ढंग से दिल्ली के रंगमंच पर पेश करने की कोशिश की, तो वे तमाम व्यक्ति एक बार मेरे मन में उसी शान के साथ जिन्दा हो गये। मुझे याद आया कि नाटक शुरू होने से पहले पुराने थिएटरों में हमेशा बँड बजा करता था ताकि लोग उसकी आवाज़ पर थिएटर की तरफ खिंचकर आये, टिकट खरीदें, नाटक देखें। संगीत की गति पर जब परदा उठता तो उसमें एक जादू का असर

होता । सारे अभिनेता बड़ी सजधज के लिबास पहन मंच पर जमे होते और वाद्यवृन्द के संगीत पर बड़े ठाठ से कोरस प्रारम्भिक गीत गाता । वह लमहा आज तक नहीं भूलता कि जब पहली बार सामने का परदा हिलता और लिपटता हुआ ऊपर को उठता । पहले अभिनेताओं के पाँव और घड नजर आते और अंत में उनके सर और चेहरे ।

पारसी थिएटर की बहुत-सी चीजों को आज हम बुरा समझते हैं । जैसे, उसकी जरूरत से ज्यादा रूप-सज्जा, सस्ते रेशमी लिबास की तडक-भडक, रंगी हुई सपाट सीन-सीनरी, नाटक में जोड़े हुए बेतुके मजाकिया टुकड़े, अभिनय में चीख-पुकार, रोना-धोना, कहानी में अलौकिक घटनाएँ और सवाद, प्रदर्शन की भावुकता, नाटक की लम्बाई, वगैरह । लेकिन इसके बावजूद दो-एक बातें इस थिएटर में थी जिनसे ईर्ष्या होती है । जैसे, संगीत का ठाठ, और परदों के उठने-गिरने में शिल्प की कुशलता ।

‘रुस्तम सोहराब’ की प्रस्तुति में मैं उस थिएटर की कमियों को तो दोहराना नहीं चाहता था, लेकिन उस थिएटर को एक नयी रोशनी में जरूर पेश करना चाहता था । इसलिए वेशभूषा वगैरह के सिलसिले में तो हमने ऐतिहासिक खोज और पुरानी ईरानी तस्वीरों से फायदा उठाया और मामूली टाट को रगवाकर कपड़े तैयार करवाये । घोड़ों और ऊँटों की जीन की चीजों और कबूतरों के पैजनों से जेवर बनवाये । मंच पर अभिनेताओं की गतियों और समूहनों के सिलसिले में आधुनिक रंगमंच के उसूलों से काम लिया । अभिनय और नाटक के अधिनिरूपण में वही नयी पद्धतियाँ इस्तेमाल की । लेकिन दृश्यों के बदलने के सिलसिले में दोनों तरीकों, यानी कुछ पारसी थिएटर और कुछ आधुनिक रंगमंच के उसूलों से काम लिया । जैसे संगीत की गति पर परदा उठता और गिरता और अभिनेता दाखिल होता और बाहर जाता । मंच के ऊपर एक चबूतरा बनाया था जिसकी शक्ल तिकोनी थी । उस पर परदे उसी तरह आते-जाते थे जिस तरह पारसी थिएटर के परदे, यानी नीचे से ऊपर को लिपटते हुए । अलबत्ता इन पर जो दृश्य बनाये गये थे, उनमें रंगों का चुनाव और मेल और रेखाओं का संयोजन और निर्धारण—ये चीजें आधुनिक चित्रकला के आधार पर थी ।

पारसी थिएटर के जिन तत्वों का मैंने जिक्र किया, उनके बावत यह कहना गलत होगा कि ये पारसी थिएटर के अलावा और किसी थिएटर में नहीं पाये जाते । खुद पारसी थिएटर विभिन्न और परस्पर विरोधी प्रभावों का नतीजा है । जैसे, रंगी हुई सीनरी और परदों की विशेष शैली और उपयोग

विक्टोरिया के जमाने के अंग्रेजी रगमच की देन है। नाटक के शुरू और आखीर में शास्त्रीय मगीत की धुन पर कोरस के गाने संस्कृत रगमच से आये हैं। अतिनाटक के साथ प्रहसन का एक अलग कथानक चलाना लोकनाट्य का ढंग है। इस तरह पारसी थियेटर में संस्कृत नाटक, नौटकी, फ्रांस का आपेरा और इंग्लैंड का पुराना रगमच—इस सबकी झलक पायी जाती है।

विभिन्न तत्वों का मेल किसी भी कला के पुनर्जागरण के लिए आवश्यक होता है। विभिन्न प्रभावों को ले लेने का यह सिलसिला हमारे रगमच में यो तो उन्नीसवीं सदी के आखीर से जारी है, यानी उस जमाने से जब कि माइकेल मधुसूदन दत्त, दीनबन्धु मित्र, गिरीशचन्द्र घोष और बाद में द्विवेन्द्र लाल राय तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे नाटक लिखने और खेलनेवाले रगमच में तरह-तरह के प्रयोग कर रहे थे। ये प्रयोग अभी पूरी तरह पनपने भी नहीं पाये थे कि पारसी थियेटर ने अपना एक नया फार्मूला तैयार कर लिया, जो बाजार में ऐसा सफल हुआ कि उसका असर बंगाल के पेशेवर रगमच पर शायद आज तक बाकी है। कमाल यह कि पारसी थियेटर ने भी अपने नाटकों में उन्हीं बातों को शामिल किया जिनके आधार पर बंगाल के बौद्धिक नाटककार नये नाटक को रूप दे रहे थे।

हमेशा यही होता है कि युग की मांग के कारण देखने में एक तरह के काम बहुत-से लोग करते हैं। ऊपर से देखने पर इन कामों का भीतरी विरोध और अन्तर महसूस नहीं होता। लेकिन ध्यान दें तो इनकी समानता एकदम सतही होती है और अन्तर बहुत बुनियादी। पारसी थियेटर और प्रारम्भिक बंगाली रगमच में विषयवस्तु की दृष्टि से तो जमीन-आसमान का फर्क था ही, रूप की दृष्टि से भी उनके बीच बड़ी खाई थी।

तत्व अक्सर वही होते हैं, लेकिन कला की दुनिया में इन तत्वों के मेल से हजार तरह के रंग पैदा किये जा सकते हैं। इस मेल से एक नया रंग पैदा करना कलाकार का और इस नये रगमच को पहचानना निगाहवालों का काम होता है। मिसाल के तौर पर, पिछले दस-बारह साल के दिल्ली के रगमच पर गौर कीजिये। संगीत नाटक के नाम पर हजार तरह के नाटक आप देख चुके हैं। इन नाटकों में कौन-से प्रभाव सक्रिय रहे हैं? हमारे लोकनाट्य, संस्कृत रगमच, पारसी रगमच, पारसी थियेटर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक, ब्रैश्ट का रगमच और हमारी फिल्में—इन सबमें आपको कुछ सामान्य तत्व दिखाई पड़ेंगे। इसके बावजूद इनमें से हरेक की अपनी अलग परम्पराएँ हैं, और दिल्ली के संगीत नाटकों में इन परम्पराओं का मेल अलग-अलग मात्र

मे हुआ है। इनमें यह समझना चाहिए कि सर्जनात्मक कला का रूप कलाकार की अपनी संवेदनशीलता की देन होता है। वह उसकी जन्मजात क्षमता, उसकी स्वाभाविक दुर्बलताओं और उसके मन-मस्तिष्क के संस्कार पर निर्भर है।

पारसी थिएटर अपने विषय और रूप दोनों दृष्टियों से मनोरंजन और पलायन का रंगमंच था, जब कि बंगाल के प्रारम्भिक नाटककार दोनों ही दृष्टियों से एक विचारोत्तेजक रंगमंच की बुनियाद डालने में लगे हुए थे यानी एक ऐसा थिएटर जो इर्द-गिर्द की सामाजिक जिन्दगी की सार्थक झलक दिखा सके।

अमानत और मदारीलाल से लेकर बेताब, एहसन, राघवेश्याम, हाफिज अब्दुल्ला और आगा हश्म तक, पारसी थिएटर का कोई भी नाटककार मनोरंजन की सतह से ऊपर न उठ सका। इस एक सच्चाई को समझ लेने के बाद, जो इस रंगमंच के करीब-करीब सभी नाटककारों पर लागू होती है उस फर्क पर भी गौर करना चाहिए जो एक तरह के दो कलाकारों की सर्जनशीलता में पाया जाता है। जैसे, वह फर्क जिसके आधार पर हम अमानत की इन्दरसभा को एक अच्छी साहित्यिक रचना और मदारीलाल की इन्दरसभा को एक घटिया दर्जे का नाटक कहते हैं। इस दृष्टि से पारसी थिएटर ने आगा हश्म से बड़ा नाटककार पैदा नहीं किया। आगा हश्म ने बहुतेरे नाटक लिखे। उनमें से बहुत कम ऐसे होंगे जिनको पूरी तरह बेकार माना जाए। अगर कोई नाटक खुद घटिया है तो उसमें मजाकिया टुकड़े जरूर ऐसे मिल जायेंगे जिनमें जीते जागते चरित्र और चटपटे संवाद बहुतायत से होंगे। इन्हीं मजाकिया टुकड़ों में व्यंग्य की मजेदार झलकियाँ भी मिलती हैं। लेकिन आगा हश्म के ऐसे नाटकों पर विचार किया जाये तो उनके सबसे अच्छे नमूने तीन रचनाओं में मिलेंगे। 'रुस्तम सोहराब', 'बिल्वमंगल' और 'आँख का नशा'। खासकर 'आँख का नशा' हश्म के चरित्र-रचना के श्रेष्ठ नमूनों में से है, और शायद उस जमाने की हिन्दी संवाद रचना की भी अच्छी झलक पेश करता है। हश्म के जो कुछ नाटक बेतुके मजाकिया कथानकों के मेल से बचे हुए हैं उनमें 'रुस्तम सोहराब' और 'आँख का नशा' भी हैं। यह एक वजह थी जिसके आधार पर मैंने 'रुस्तम सोहराब' मंच पर पेश करना चाहा था। इस नाटक की बनावट मुझे पसन्द आयी। इसमें शुरू से आखीर तक हर दृश्य में बस एक ही कहानी अपने चरम-बिन्दु की तरफ बढ़ती नजर आती है, कोई चरित्र बेकार नज़र नहीं आता, कोई मजाकिया टुकड़ा नाटक के बहाव में रुकावट पैदा नहीं



करता । गाना इस नाटक में सिर्फ एक जगह है और वह बहुत मुनासिब है यानी सिपाहियों के शिविर में एक नाचनेवाली गजल गा रही है । इसलिए हथ्र के और नाटकों की तरह गानों की भरमार भी कहानी को बोझिल नहीं बनाती ।

सवादों और चरित्र-चित्रण में एक बनावटी गान और गूँज-गरज जरूर पायी जाती है, जैसा कि उस जमाने के नाटकों का कायदा था । लेकिन यह धूमधाम फिरदौसी की उस पुरानी कहानी के लिए ऐसी अनुचित नहीं मालूम होती । भाषा रवानी के साथ लिखी गयी है, और लखनऊ के अच्छे मुहावरे में लिखी गयी है । लेकिन इन तमाम बातों से हटकर जिस चीज ने मेरा ध्यान इस नाटक की तरफ खास तौर से खींचा था, उसका सम्बन्ध नाटक के विषय से है । इसके कथानक में दो पहलू स्पष्ट उभरते हैं । एक तो यह कि लड़ाई और जग एक बेकार काम है, और दूसरा पहलू, एक बाप, यानी रूस्तम के निजी दुर्भाग्य का । नाटक के रूप के अलावा मुझे विषयवस्तु के उन दोनों पहलुओं से खास दिलचस्पी थी, खासकर एक बाप के दुर्भाग्य से कि वह बुढ़ापे में अपने जवान और इकलौते बेटे को अपने हाथों नादानों में कत्ल कर देता है ।

कुछ तो हमने जान-बूझकर कोशिश की कि यह नाटक एक हद तक पारसी थिएटर की याद ताजा करे और एक हद तक आधुनिक शैली के रगमच की झलक दे । कुछ यह भी हुआ कि अनजाने ही ये दोनों तत्व प्रस्तुति में आ गये । जैसे मूक अभिनय का या परदों का इस्तेमाल जैसी चीजें तो जान-बूझकर ही की गयी कोशिश का नतीजा थी । लेकिन कुछ पुराने ढंग के अभिनेता जो इस नाटक के लिए उपयुक्त नज़र आये उनके अभिनय में मेरी कोशिशों के बावजूद एक पारम्परिक ढंग बना रहा जो मुझे नापसन्द था । उसकी वजह से सारी प्रस्तुति में अभिनय की दृष्टि से वह समतलता और सगति शायद पैदा न हो सकी जिसके बिना शैली पैदा करना नामुमकिन है । इसके बावजूद अगर यह नाटक कई बुद्धिजीवी लोगों को अच्छा लगा तो उसके माने ये हैं कि इस नाटक में भी कोई ऐसी बात थी जो आज के थिएटर देखने-वालों के लिए आकर्षण का कारण साबित हुई ।

सबसे बड़ी वजह इस नाटक को चुनने की तो खैर यही थी कि यह बीसवीं सदी के सबसे कामयाब पेशेवर रगमच का एक नाटक था । हम देखना चाहते थे कि सचमुच इसमें कितनी जान है, और क्या यह आजकल के वातावरण में भी कामयाब साबित हो सकता है । इसलिए इसकी कामयाबी

ने शायद यह साबित कर दिया कि पारसी थिएटर की सफलता केवल अस्थायी और आकस्मिक नहीं थी, बल्कि कुछ इस ढंग की थी जिसमें हिन्दुस्तानी स्वभाव और हर सतह के लोगो की रुचि का ध्यान रखा गया था। आलोचक शायद इस पर भी सहमत हो कि 1960 में 'रुस्तम सोहराब' की कामयाबी में प्रदर्शन के आधुनिक ढंग का भी एक हद तक हाथ था। यह बात इसलिए भी खयाल में आती है कि 'रुस्तम सोहराब' आगा हश्र के उन अच्छे नाटको में से है जिसे वह पारसी थिएटर कम्पनियों के मंच पर पेश करने में आखीर उम्र तक नाकामयाब रहे।

'रुस्तम सोहराब' उन्होंने प्रौढता के अन्तिम दिनों में लिखा था, और एक बार पारसी थिएटर की व्यावसायिक आवश्यकताओं को भूलकर लिखा था। यही वजह थी कि यह नाटक लिखकर उन्होंने अपने दिल की प्यास तो बुझायी, लेकिन पारसी थिएटर के किसी मालिक को इस मामले में अपना हमखयाल बनाने में कामयाब न हो सके। इस बात पर गौर किया जाये तो फिर यह महसूस होता है जैसे कि आगा हश्र ने 'रुस्तम सोहराब' अपने जमाने के लिए नहीं, आइंदा जमाने के लिए लिखा और इसलिए यह नाटक पहले नहीं खेला जा सका, बल्कि 1960 में पहली बार खेला गया और कामयाब हुआ।

नाटक की बनावट पर गौर कीजिये तो भी यही बात सम्भव जान पड़ती है। गाने और मजाकिया कथानक जो पारसी थिएटर की जान थे वे इसमें नहीं पाये जाते। यानी वे तत्त्व इस नाटक में नहीं हैं जिनके आधार पर पारसी थिएटर ही की वजह से हिन्दुस्तानी फिल्म की बुनियाद डाली गयी थी और जो आज तक निहायत टिकाऊपन और मजबूती के साथ कायम है। मौजूदा युग में हम पहले इब्सन और बाद में योरोप के दूसरे नाटककारों से परिचित हुए जिसमें ब्रेस्ट के नाम को भी शामिल करना होगा। इसके साथ-साथ यह भी है कि वे लोग जो पश्चिम के रंगमंच और सिनेमा की तरफ खिंचे वे हिन्दुस्तानी फिल्मों के लचर गानों और बेहूदा कहानियों और सस्ती रुचि से पूरी तरह तग आ गये। गोया ऐसे नाटकों के लिए जमीन तैयार होती गयी जिनमें गानों और मजाकिया टुकड़ों की बहुतायत न हो और जिनमें कहानी कहने का अन्दाज अगर इब्सन का-सा न हो तो ब्रेस्ट के महारंगमच का-सा हो।

शेक्सपियर का नाम मैं इसलिए नहीं लेता कि शेक्सपियर के नाम पर तो आगा हश्र ने अपने नाटकों का लगभग सारा ढाँचा ही खड़ा किया था। लेकिन शेक्सपियर के अनुवाद आगा हश्र के यहाँ इस बुरी तरह बिगड़कर रहे

गये कि उनके नाटको का नाम शेक्सपियर के थिएटर के साथ लेने में शर्म आती है। लेकिन अगर गौर किया जाये तो शेक्सपियर का नाट्य रूप सबसे रचे हुए अन्दाज में हस्तम सोहराब ही में आगा हश्र शामिल कर सके है। शेक्सपियर के अनुवादों में तो वह खुद को यह धोखा देते रहे कि यह सूरत शेक्सपियर के नाटको से ली गयी है। ब्रेश्ट का थिएटर खुद एलिजाबेथीय थिएटर का बहुत हद तक ऋणी है। लेकिन ब्रेश्ट और शेक्सपियर का नाम लेने से मेरी मुराद यह भी नहीं कि आगा हश्र के किसी भी नाटक में इन लिखनेवालों की गहराई या फैलाव छू भी गया है। मेरा मतलब ज्यादातर नाटको की बनावट से है, और हस्तम सोहराब की कहानी के इस पहलू से जो आज भी दिलचस्प है।

पारसी थिएटर के दूसरे नाटको को अगर आज स्टेज पर पेश करना है तो आधुनिक शैली में ही पेश करना होगा वरना ये नाटक बेमानी साबित होगा। इस थिएटर के कुछ नाटक हैं जो नये अन्दाज में पेश करने के काबिल हैं और इन नाटको की बनावट में, इनके चरित्रों और संवादों में, कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनसे न सिर्फ देखनेवालों का मनोरंजन होगा, बल्कि शायद जिनसे आज के नाट्यकार भी किसी हद तक फायदा उठा सकते हैं। क्योंकि इनकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि ये बुनियादी तौर पर हिन्दुस्तानी स्वभाव और हिन्दुस्तानी परिवेश के नाटक हैं—यानी वह स्वभाव और परिवेश जो हजार बार बदलने के बाद भी सदियों से ज्यों का त्यों रहा है।

फिर यह भी सोचना होगा कि आज का हिन्दी और उर्दू थिएटर, बल्कि सारे हिन्दुस्तान का थिएटर, उन रास्तों की तलाश में है जिन पर चलकर वह नये-नये रूपों में खुद को ढाल सके—ऐसे रूप जिन्हें देखकर हम यह कहें कि इस थिएटर में एक साथ एक तरह की ठेठ भारतीयता भी पायी जाती है और एक अन्तर्राष्ट्रीयता भी। और अगर यह बात सही है तो जहाँ हम ब्रेश्ट और बेकेट, विशाखदत्त, शूद्रक और कालिदास, शेक्सपियर और मोलियर की तरफ बढ़ते हैं, वहाँ हमें उस डगर का भी स्वागत करना चाहिए जिस पर कई साल तक पारसी थिएटर बड़ी कामयाबी से चलता रहा है। यह भी हमारे थिएटर की प्रगति के सिलसिले की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। और सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें हमारे बचपन की कुछ लतीफ यादें भी शामिल हैं।

(नटरंग, अंक 9)

## विभु कुमार द्वारा साक्षात्कार

विभु कुमार तनवीर साहब, आज अखिल भारतीय स्तर पर, आपका और आपकी नाट्य सस्था नया थिएटर का नाम और चर्चा है। मुझे लगता है, आपका और आपकी सस्था का काम देश की अन्यान्य नाट्य-सस्थाओं से, मसलन, दिशातर, अनामिका, थिएटर यूनिट आदि से बिल्कुल ही भिन्न स्तर पर है। क्या आप बतायेंगे कि वे कौन-सी भिन्नताएँ हैं और आपने इस स्तर पर कार्य-प्रणाली को क्यों चुना ?

हबीब तनवीर : सब से बड़ी विशेषता गालिबन यह है कि लोकनाट्य टेकनीक मैं इस्तेमाल करता रहा हूँ—हर किस्म के ड्रामे में। खास तौर से ऐसे ड्रामों में, जो कि शास्त्रीय नाटकों से ताल्लुक रखते हैं—मसलन संस्कृत के ड्रामे और उनके अंदर भी लोक परंपराओं से फायदा उठाकर और दूसरे नाटकों में भी। मेरे खयाल से यह एक चीज है। और दूसरी यह कि देहात के ऐक्टर मैं ले के आया हूँ और उनको शहरी ऐक्टरों के साथ मिलाकर प्रोडक्शन किया है।

विभु कुमार : इसमें जो दूसरा प्रश्न था वह यह कि अनामिका, दिशातर या थिएटर यूनिट जिस प्रकार के नाटक कर रही हैं, उस प्रकार के नाटकों की योजना आपके दिमाग में है या नहीं ?

हबीब तनवीर बात यह है कि मैं अपने यहाँ के 'फोक थिएटर' में बहुत विश्वास रखता हूँ। उसमें जो जान होती है, उससे बहुत फायदा उठाकर, शहरी ड्रामे, कलचर और थिएटर को, और निखार सकते हैं—ऐसा मेरा विश्वास है। जरूरत है सही मानों में देहार्ता परपराओं से फायदा उठाने की और इसी से वह 'सिथेसिस', जिसकी हमें जरूरत भी है, पैदा हो सकेगी। और दूसरी सस्थाओं के जो आपने नाम लिये, उनके नाटकों में यह चीज कम पायी जाती है।

विभु कुमार आपका मतलब है जिस प्रकार के नाटक आज आप कर रहे हैं, उससे दर्शक ज्यादा जुड़ेगा नाटक और रगमच के प्रति ?

हबीब तनवीर : हाँ। एक यह चीज, और दूसरी यह कि मैं अपने नाटक और थिएटर की जो रूपरेखा बनाता हूँ, और आइदा जो ड्रामे लिखने वाला हूँ, और दूसरे लोग जो लिखेंगे, मैं चाहता हूँ प्रभाव पड़े उस पर हमारी शास्त्रीय और लोकनाट्य दोनों परपराओं का।

विभु कुमार तनवीर साहब, आपकी बात काफी ठीक है, लेकिन आज जिस तरह के नाटक लिखे जा रहे हैं—क्या आप उनसे सहमत हैं ? अगर नहीं तो क्यों ?

हबीब तनवीर : असहमत होने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता, विभु। अबलवत्ता यह और बात है कि हर वह ड्रामा जो खेला जा रहा है—मैं खुद खेलना नहीं चाहूँगा। हालाँकि उनमें से कुछ ऐसे ड्रामे भी हैं जिन्हें मैं देखना अवश्य पसंद करूँगा। कुछ ऐसे हैं जो मैं खेलना किसी भी तरह पसंद न करूँ। मसलन, कुछ ऐसे ड्रामे जो दूर से मुझे अच्छे लगें। मिसाल के तौर पर आधे-अधूरे, जो मुझे एक हद तक पसंद हैं—लेकिन मैं उसे खुद खेलना नहीं चाहूँगा। उसके मुकाबले गिरीश कारनाड का हयवदन, वह ड्रामा मैं खेलना चाहता हूँ, मुझे पसंद है। इसलिए भी कि लोक सस्कृति का प्रभाव कुबूल किया है गिरीश कारनाड ने। इसे मैं प्रोडक्शन में और निखारकर प्रस्तुत कर सकता हूँ। दूसरी जो बात आप कह रहे हैं, लोक-सस्कृति की, उसके अंदर बड़ी गुंजाइश है और उसका कई तरह का इटरप्रिटेशन किया जा सकता है।

विभु कुमार क्या आपको नहीं लगता कि हिंदी रगमच का क्रमिक विकास न हो पाने से, उसने जो छलाग एकदम से अत्याधुनिक नाटकों पर लगायी है, वह कई मानों में बेतुकी-सी है ? और क्या यही कारण नहीं है कि आज का दर्शक हिंदी रगमच से अपना तादात्म्य उतनी आत्मीयता के साथ

नहीं जोड़ पाया है जितनी आत्मीयता के साथ महाराष्ट्र या बंगाल का नाट्य-प्रेमी दर्शक जुड़ा है ?

हबीब तनवीर • आपका यह अंदाजा बड़ी हद तक सही मालूम होता है । इसमें कोई शक नहीं कि हमारे यहाँ एक तसलसुल नहीं मिलता है—और उसकी वजह से कुछ अदेशा यह होता है कि जिस तरह के नाटक लिखे जा रहे हैं, उनमें एक यह रुझान पाया जा रहा है कि सारा इस्पिरेशन, सारी प्रेरणा मगरिब (पश्चिम) के नाटकों से ली, और वह भी इस किस्म के कि जिनकी न टेकनीक, और न जिनकी बात और न मौजू मेल् खाता है हमारी जिदगी से, हमारे समाज से । तो देखने वाले दर्शक जो आत्मीयता नहीं महसूस करते उसकी वजह शायद सिर्फ यह न सही—एक जबर हो सकती है । अलबत्ता और बहुत-से कारण शायद इसके हैं । और इसके लिए जितनी चीजों की जरूरत है सभी कुछ करना होगा । लेकिन आपने जो एक बात रखी है सामने कि हमारे यहाँ ऐसा विकास जिसका ताल्लुक एक परंपरा से हो जो बढती रहे, बराबर लगातार—उसकी कमी का नुकसान भी है और एक हद तक फायदा भी । फायदा यह है कि आधुनिक नाटककार जो चाहते हैं परंपराओं से मुँह मोड़कर आगे की तरफ बढें—ऐसे लिखनेवालों को यह मौका मिल रहा है कि वे आधुनिकता को मोड़ दे सकें नाटकों से । इसमें अदेशा हमेशा यह रहता है कि परंपराओं को जानकर और फिर जानबूझकर मुँह मोड़ना एक चीज होती है—और न जानना और जानते हुए एक खिला के अदर से, एक वैक्यूम के अदर से, कोई चीज पैदा करना दूसरी चीज होती है । लेकिन उसके अदर जो एक बेताल्लुकी होती है वो गोया उसके अदेशे है, खतरे है । इससे यह चीज भी साबित होती है कि जिस तरह की शिक्षा हमारे यहाँ दी जा रही है, स्कूलों और कालेजों में, जिस तरह की जिदगी हमारी हो गयी है, तो उसमें और भी ज्यादा जरूरी है कि हम इस बात पर गौर करें कि जो लोग पढ़े-लिखे आ रहे हैं उन पर परंपराओं का प्रभाव पड़े—उनमें रुचि पैदा हो इस चीज के लिए ।

विष्णु कुमार • यानी नाटक का परंपरा के साथ जुड़ा हुआ होना कम से आप अनिवार्य मानते हैं ?

हबीब तनवीर • जी हाँ, बिल्कुल ।

विष्णु कुमार : इसी सदर्भ में मुझे यह भी लगता है कि हिंदी दर्शकों की हिंदी रंगमंच के प्रति अरुचि अब तक इसलिए भी है कि हिंदी के रंगकर्मी और नाटककार जिस तरह के नाटक लिख और प्रस्तुत कर रहे हैं, वे एक खास

ये एमेच्योर है (देहात के है) या प्रशिक्षित नहीं है इसलिए इनका प्रस्तुतीकरण उतना अच्छा नहीं होता ?

हबीब तनवीर हाँ, अतर बहुत लगता है। इसकी वजह भी यही है कि नेशनल स्कूल आफ ड्रामा एक तो नाम ठीक नहीं है। उसका नाम है—नेशनल स्कूल आफ ड्रामा पर वह हिंदी भाषा में ऐक्टिंग सिखाता है। बहुत अच्छा काम करता है कई एतबार से। इसके बावजूद यह एक बुनियादी गलत बात है कि जहाँ हमें जरूरत है जितनी जवानों हमारी हैं (चौदह जवानों है कुल) तो शायद चौदह इस तरह के स्कूल होने चाहिए। यह एक गलत बात लगती है कि बंगाल, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र का ऐक्टर वहाँ पर आये और हिंदी भाषा में ऐक्टिंग सीखे। जबकि मातृभाषा से ताल्लुक इस प्रकार के क्रिएशन का, उस सस्कृति से जो जवानों के अंदर छिपी हुई है उस लिहाज से उसमें फर्क भी मिलता है। अब अगर लखनऊ का और वह भी उन्नीसवीं सदी का नवाबी कलचर हम पेश करना चाहें तो उसके लिए पहला लाजिमी उन्सर होगा ऐक्टर का लवो-लहजा, बैठने-उठने का तरीका, सलाम करने का, खाने-पीने का, इस सबका जो अंदाज होता है इसान का। तो इसके लिए जरूरी है कि स्कूल इस तरह का हो कि पूरी चीज तमाम तकमील के साथ सिखा सके। अथवा दूसरा तरीका यह है कि लखनऊ के आदमी को पकड़ ले आप जिसमें जरा-सी भी ऐक्टिंग की चिगारी हो, टेलेंट हो। तो जब कमी है इस तरह की ट्रेनिंग की तो बेहतर तरीका यह है कि वैसे आदमी को आप पकड़ लें। मैं यही करता हूँ आसान काम। लखनऊ के आदमी को पकड़ लेता हूँ लखनऊ की ऐक्टिंग करने के लिए और गाँव के आदमी को पकड़ लेता हूँ गाँव की ऐक्टिंग करने के लिए। और अगर ऐसा न हो, और देहात की चीज अगर शहर का आदमी करे और कच्चा हो, तो 'सूडो' इफेक्ट पैदा होता है जिसके मैं बहुत खिलाफ हूँ। यह चीज बंगाल और महाराष्ट्र में कम पायी जाती है क्योंकि उनका ताल्लुक अभी भी अपनी जमीन से है। यहाँ शहर का आदमी जब किसान बनता है तो उसे मालूम होता है उसका अंदाज हाथ चलाने का, बात करने का, कपड़े पहनकर उनको सभालने का, यह सब उसे आता है। यह बात हमारे यहाँ हिन्दी में कम है मजह इसलिए कि हटे हुए हैं अपनी परंपराओं से अगर, तो अपनी जमीन से भी हटे हुए हैं। और उन तबकों से भी कटे हुए हैं जो देहातों में पाये जाते हैं।

विभु कुमार. आपके नाटक इद्र लोकसभा को लेकर तरह-तरह की बातें उठीं। कुछ ने यहाँ तक कहा कि नाटक और मंच को किसी पार्टी

विशेष के प्रचार का मुद्दा नहीं बनाना चाहिए। इस सदर्म में आप क्या सोचते हैं ?

हबीब तनवीर : यह एक गलतफहमी की बिना पर है, जिसका नतीजा तो यह होगा कि 'एजिटप्राप प्ले' बिल्कुल न हो—जिसका मैं बहुत कायल हूँ, क्योंकि मेरी बुनियाद आवासी थिएटर से (इण्टा) रही है। उस वक्त हम इसी किस्म के ड्रामे किया करते थे। बल्कि कभी-कभी तो कौमी मसायल जो सामने आते थे, उन पर बहुत जल्दी में नाटक लिखा करते थे। दिल्ली में यह कमी बड़ी शिद्दत से महसूस हो रही थी। बरसों से मैं यहाँ था, हर किस्म के ड्रामे मैंने यहाँ किये, पर न मैंने और न अन्य किसी ने इस किस्म का ड्रामा किया। इद्र लोकसभा में मैंने तकरीबन सभी पार्टियों का मखौल उड़ाया है। इसे मैंने इण्टा के जमाने के 'पार्टी लाइन' ड्रामो की तरह नहीं लिखा है। बल्कि सभी पार्टियों की खामियाँ गिनायी हैं। लेकिन ड्रामा था मुतलिक इलेक्शन के और उसी समय खेला गया। इसलिए इसका एक छोटा-सा मकसद था कि वोटर को साफ-साफ सोचने में मदद दी जाय। इसलिए इसमें हमने पौलिटिकल एनालिसिस किया और खामियाँ दिखायी तमाम पार्टियों की। और अतः में इसी नतीजे पर पहुँचे कि सबसे कम खराबी इंदिरा गाँधी की कांग्रेस पार्टी के अंदर है। चुनावों में वोट अगर दो तो इसी पार्टी को दो—चूँकि केन्द्र में सरकार बहुत मजबूत होनी चाहिए और दूसरी कोई पार्टी सरकार बनाने के काबिल है नहीं, और चूँकि सबसे कम खराबी इसी पार्टी के अंदर है। यह कहने के लिए हमने किसी भाषण से काम नहीं लिया। सिर्फ आखीर में झंडा दिखाया था कांग्रेस पार्टी का। और जब हमने इसे नयी दिल्ली में दिखाया तो झंडा भी नहीं दिखाया। क्योंकि उस वक्त तक चुनाव भी हो चुका था। इसलिए जरूरत भी नहीं थी। सो मात्र सैटायर ही बाकी रह गया था।

तो यह चीज़ थी और मैं समझता हूँ कि इन ड्रामो की बेहद कमी है। और इसीलिए बँगला देश का मामला लेकर हमने कुश्तिया का चपरासी ड्रामा लिखा। इसमें हम कहना चाहते थे कि हथियारों के जरिए हिंदुस्तान को बँगला देश की मदद करनी चाहिए। हमने सितंबर-अक्तूबर में यह ड्रामा खेला। उस वक्त तक सरकारी पालिसी के यह खिलाफ पडता था। दिल में उनके क्या था, यह किसी को नहीं मालूम। इतिहास है कि दिसंबर तक यो हुआ कि लडाई में हम शरीक हुए। पाकिस्तान के हमले की वजह से शरीक होना पडा। गोया ड्रामा सही हो गया। तो मैं इस बात का बहुत



कायल हूँ कि एक क्रिटिकल किस्म का थिएटर, पोलिटिकल किस्म का, जो पार्टियों से आजाद हो, होना चाहिए। यह थिएटर इस वक्त दिल्ली में बहुत कम है, और जिसकी कि इस वक्त जरूरत है।

विभु कुमार दिल्ली में ही क्यों, बल्कि हर क्षेत्र में इस किस्म के थिएटर की जरूरत है, यह कहना शायद ज्यादा ठीक होगा।

हबीब तनवीर 'कलकत्ते में शायद है। कलकत्ते में थिएटर की राजनीतिक परंपराएँ काफी अच्छी रही हैं। और यह कहना मुश्किल होगा कि हर जगह इसकी कमी है। दिल्ली में यह कमी ज्यादा इसलिए खटकती है कि वहाँ उथले किस्म के दर्शक ज्यादा हैं। साथ ही नाटक करनेवालों में भी एक कमी है 'पोलिटिकल काशसनेस' की जो कि एक गलत बात है। और मुझे पसंद नहीं।

विभु कुमार लेकिन अपने आप में यह अजीब बात नहीं है कि दिल्ली जो राजनीति का केन्द्र है वहाँ आप को लगता है 'पोलिटिकल काशसनेस' नहीं है?

हबीब तनवीर . विभु, दिल्ली में, यही तो खास बात है। वह तबका जो अपने आपको बुद्धिजीवी तबका कहता है, आर्ट और कल्चर से वास्ता रखता है, वह समझता है कि इस तरह का इंटरेस्ट लेना जिससे बाकायदा मुल्क के पोलिटिकल सिस्टम पर असर हो, हल्का काम है, जो कि सरासर गलत है। मैं समझता हूँ कि एक आर्टिस्ट को, एक कलमकार को, बहुत गर्मजोशी के साथ इसमें हिस्सा लेना चाहिए। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि मात्र इसी किस्म का नाटक होना चाहिए या थिएटर पनपना चाहिए। लेकिन अहम सवाल इस वक्त यह है कि हर किस्म का नाटक और थिएटर पनप रहा है, सिवाय इस एक किस्म के नाटक और थिएटर के।

विभु कुमार . यानी आप मानते हैं कि आज के युवा भारतीय मानस के लिए राजनीतिक चेतना से सम्पन्न नाटकों की आवश्यकता है? और यह भी कि नाटककार को कमिटेड होना ही पड़ेगा?

हबीब तनवीर 'यकीनन। इसके बगैर यह समझ में नहीं आता कि जैसा मुल्क हिंदुस्तान जो एक डेवलपिंग मुल्क है, जिसमें हर क्षेत्र में तरक्की की जरूरत है, जहाँ वर्गों का बड़ा अंतर है, हजार हमारे मसाले ऐसे हैं कि जो हमें झुंझलाते हैं, जिनसे हमें उलझना पड़ता है—तो कला के जरिये जब तक हम कमिटेड न हों तो इनको दूर करने का हम क्या इतजाम कर सकते हैं? और बहुत से तरीके हैं जिनके जरिए अच्छे कलाकार उसमें उलझे। मगर कमिटेड महसूस करना पहली शर्त है।

विभु कुमार प्रश्न उठता है कि इस प्रकार 'कमिटेड' लेखन से उत्कृष्ट कोटि के नाट्य लेखन में साहित्यिक दृष्टि से कमी नहीं आ जायेगी ?

हबीब तनवीर नहीं, मेरे खयाल से तो इसका बिल्कुल उल्टा नतीजा निकलेगा। कमिटेड होने का लाजिमी तौर पर यह मतलब नहीं कि आप किसी पार्टी से कमिटेड हो। और यह कि आप सतही किस्म के, उथले किस्म के नाटक ही लिखें। श्रेष्ठ साहित्य से मतलब अगर 'आर्ट फौर आर्ट सेक' है, तो यह गलतफहमी है। अगर कलाकार अच्छा है तो उसे कुछ कहने की जरूरत नहीं, वह अपनी कला की इटीग्रिटी छोड़े बगैर अपने कमिटेड को आर्टिस्टिक ढंग से प्रोजेक्ट कर सकता है। यह मैं नहीं कह रहा हूँ कि सिर्फ प्रोपेगेंडा नाटक ही हो, लेकिन कमिटेड बड़ा गहरा जा सकता है, और बगैर कमिटेड के श्रेष्ठ साहित्य का कसेप्शन मेरी समझ में गलत है।

विभु कुमार एक सजग रगकर्मी होने के साथ-साथ अब आप राज्यसभा के सदस्य भी हैं। इसलिए संगीत नाटक अकादेमी के कार्यकलापों के प्रति अब आप की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है। क्या आप ने इस सदर्भ में सोचा है कि संगीत नाटक अकादेमी को, आज की राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक गतिविधियों के सदर्भ में, नये सिरे से पुनर्गठित किया जाना चाहिए ताकि वह अपना काम सही और प्रतिनिधि ढंग से कर सके ?

हबीब तनवीर : अब मेरी जिम्मेदारी सिर्फ इस हद तक बढ़ गयी है कि एक ऐसा फोरम, जहाँ से मैं अपनी राय इस सिलसिले में दे सकता हूँ, मुझे मिल गया है, जबकि पहले और तरीके थे। पहले अखबारों या कान्फ्रेंसों के जरिये अपनी राय जाहिर करते थे। अब पार्लियामेंट के अंदर कह सकते हैं। इसका नतीजा या असर क्या होगा इसके बारे में कहना जरा मुश्किल है। लेकिन अकादेमी के सिलसिले में तो बहुत-से लोग सोच रहे हैं—खुद पार्लियामेंट के अंदर भी।

मैंने इस सिलसिले में बहुत-कुछ सोचा है और मेरा खयाल है कि अकादेमी का सारा ढाँचा बदल देने की जरूरत है। दरअसल, इस वक्त डिस्ट्रीब्यूशन की जरूरत है जबकि तीनों ही अकादेमियाँ इस वक्त दिल्ली में मौजूद हैं। यह और बात है कि स्टेट लेवल पर भी अकादेमी मौजूद है, लेकिन इतना इफेक्टिव उनका काम नहीं है। इस वक्त यही एक सूरत है कि दिल्ली में जो फक्शनरीज हैं, काम करने वाले, अकादेमियों के अंदर, उनसे हम गोया यह तबक्को रखते हैं कि इतने बड़े मुल्क को, इतने हजार रंगों को, जो कल्चर के हैं, उन सब पर उनकी नजर हो। जो नामुमकिन है जब तक और नीचे नहीं

उतरेगा मामला, और ऐसे लेवल पर इसकी जिम्मेदारियां नहीं सौंपी जायेगी कि हर क्षेत्र की मस्कृति की देखभाल करने के लिए वही का आदमी मौजूद हो। इस तरह वह अपनी जिम्मेदारियों का अहसास अच्छी तरह कर सकेगा और उससे ज्यादा उम्मीद रखी जा सकेगी। उस पर एतबार और एतराज दोनों किया जा सकेगा। अभी इस वक्त तो यह सूरत है कि हम एतराज भी नहीं कर सकते। चुनावों इसमें कोई शक नहीं कि अकादेमी का ढाँचा बदलना होगा।

विभु कुमार शहर दिल्ली हो या रायपुर, रंगकर्मी की कुछ समस्याएँ जो हमेशा होती हैं, सब जगह मौजूद हैं। मसलन, रिहर्सल के लिए उपयुक्त स्थान, समझदार दर्शक, सही कलाकारों की कमी, आदि। इस समस्या के लिए आपके पास कोई ठोस उपाय है क्या? मुझे लगता है कि संगीत नाटक अकादेमी देश की प्रसिद्ध नाट्य संस्थाओं को यदि छोटे शहरों में नाटक प्रदर्शित करने को प्रोत्साहित करे तो वातावरण निस्संदेह बन सकता है। आपका क्या ख्याल है?

हबीब तनवीर दुरुस्त ख्याल है आपका। और फिर अकादेमी को ही क्यों करना चाहिए यह काम? एजुकेशन मिनिस्ट्री भी कर सकती है। यह काम देश की विभिन्न यूनिवर्सिटियों को भी सौंपा जा सकता है। न सिर्फ अच्छे ड्रामा करनेवाले जो लोग मौजूद हैं उनको चारों तरफ भेजना चाहिए, वरना ड्रामा कैम्प के छोटे-छोटे कोर्सेज होने चाहिए—एक्टिंग के, थिएटर के, प्रोडक्शन के, जिससे कि छोटे शहरों के लोग फायदा उठा सके। सबसे अच्छा तो यही होगा कि बहुत-सा काम थिएटर का यूनिवर्सिटियों सम्हाले। एक्टिंग, प्रोडक्शन आदि के लिए एक अलग फैकल्टी ही हो। और बहुत-से अन्यान्य सरकारी मोहकमे भी हैं, उन्हें भी सोचना चाहिए कि किस तरह मदद की जा सकती है।

दूसरा तरीका यह हो सकता है कि लोक-नाटक की संस्थाएँ अलग-अलग इलाकों में ऐसी बना दी जायें जो डाकुमेंटेशन का काम, प्रिजरवेशन का काम, और साथ-साथ प्रोडक्शन का काम नये से नये ढंग से करें। इस तरह से सोचा जायगा तो, थिएटर का विकास, जिसकी जरूरत है और जो उसमें एक तसलसुल की कमी है, पूरी हो सकेगी।

विभु कुमार इसी सदर्भ में, मेरा ख्याल है कि दिल्ली में जो नाट्य संस्थाएँ हैं, उन्हें अनुदान मिलता भी है। लेकिन छोटे शहरों में जो नाट्य संस्थाएँ हैं, उन्हें तो कोई अनुदान मिलता ही नहीं। तो क्या इस प्रकार की

कोई व्यवस्था नहीं होनी चाहिए कि छोटे शहरों में जो नाट्य संस्थाएँ हैं उनको भी अनुदान मिले, ताकि वे सही ढंग से हिंदी रंगमंच के विकास की दिशा में अपना योगदान दे सकें ? चूँकि मैं भी एक नाट्य संस्था हस्ताक्षर से जुड़ा हूँ, इसलिए जानता हूँ कि उनके सामने जो सबसे बड़ी समस्या होती है, वह आर्थिक ही है। और उसके बिना अच्छे से अच्छा नाटक भी वे ठीक से प्रस्तुत नहीं कर पाते।

हबीब तनवीर जब अकादेमियों का काम डिस्ट्रिक्ट लेवल पर होने लगेगा, तो इस तरह की समस्या मेरे ख्याल से सामने नहीं आयेगी। यही जरूरी भी लगता है। और जिम्मेदारी स्टेट और डिस्ट्रिक्ट लेवल पर आ जाय तो फिर काम करने वाले सामने नज़र आयेगे। शहरों की म्यूनिसिपैल्टीज़ और कार्पोरेशन भी यह काम कर सकती हैं, कुछ हद तक। इस तरह की जो मुख्तलिफ़ एडमिनिस्ट्रेशन हैं, परिषदें हैं, उनमें भी इस ओर भुकाव पैदा किये जाने चाहिए, कि कला, ड्रामा, थिएटर, संस्कृति, संगीत, नृत्य इन चीज़ों में दिलचस्पी ले और जरा-सा पैसा इसके लिए अलग रखे। जो वहाँ से कमी है फिलहाल वह इस तरह पूरी हो जायेगी।

विभू कुमार : तनवीर साहब, आप तो अपने ड्रामों के सिलसिले में छोटे शहरों में भी घूमे ही हैं, और संभव है कि छोटे शहरों की नाट्य संस्थाओं द्वारा किये गये कुछ प्रस्तुतीकरण भी देखें होंगे। आपको नहीं लगा कि इन छोटे शहरों के कलाकारों में टैलेट की कमी नहीं है ? ये भी उतना ही अच्छा प्रस्तुतीकरण कर सकते हैं जैसा कि बड़े शहरों की नाट्य संस्थाएँ करती हैं, मात्र साधनों का अभाव है ?

हबीब तनवीर : अक्सर, अक्सर मुझे ऐसा ही महसूस हुआ है। हाल ही में मैं जयपुर गया था। सब नौजवान थे, बहुत कम ऐसे थे जिन्हें मैं पहचानता था। और पाँच दिन के कैंप में हमने घंटे-डेढ़ घंटे के कुछ माइम्स भी किये। अगर उनमें टैलेट न होता तो बड़ा मुश्किल था कि उनमें से कुछ टैलेट उभर कर आते। बहुत ताज़्जुब हुआ था मुझे यह देखकर। मैं इसी तरह मैंसूर गया—एजुकेशन मिनिस्ट्री की तरफ से ड्रामा कैंप था। तमाम यूनिवर्सिटीज़ कालेजों के वे लेक्चरर्स वहाँ आये थे जिनका ताल्लुक नाटक से था। उसमें हर इलाके, हर तबके का और जबान को बोलनेवाला आदमी था। बड़ा टैलेट नज़र आया उनमें। ऐक्टिंग में भी और प्रोडक्शन में भी। टैलेट की हमारे यहाँ कमी नहीं है, और उसका छोटे-बड़े शहर से कोई ताल्लुक नहीं है। देहात के अंदर भी ऐसे-ऐसे रेयर किस्म के, कामयाब किस्म

के, हुनरमद मिलते हैं कि ताज्जुब होता है कि आज तक इन कलाकारों को कोई एवार्ड क्यों नहीं मिला ? और इनकी सस्थाओं को अभी तक कोई ग्रांट क्यों नहीं मिली ? मिलनी चाहिए, ज्यादा हासला-अफज़ाई होगी ।

विभु कुमार : इधर कई अच्छे-अच्छे रगकर्मी फिल्मों की ओर झुकते जा रहे हैं । इसे आप किस रूप में लेते हैं ? शुभ या अशुभ ? मतलब कि इसका नाटक पर अच्छा असर पड़ेगा या बुरा ?

हबीब तनवीर : मेरे ख्याल से तो अच्छा असर पड़ेगा । इष्टा में जब हम काम किया करते थे तो लोग इष्टा के अंदर ट्रेनिंग पाने के बाद फिल्मों में चले जाया करते थे । और हम गोया उन्हें हमेशा के लिए खो दिया करते थे । उनमें से ऐसे भी थे कि जो इस गलतफहमी में मुक्तिला रहा करते थे —अपने आप को भी फरेब देते थे और हमसे भी यही कहते थे—कि हम जा रहे हैं पैसा कमाने के लिए और जरा ताकत हासिल करने के लिए, और इसके बाद हम थिएटर में वापस आ जायेंगे । इनमें बड़े-बड़े कलाकार भी, जिनके नाम मशहूर हैं, शामिल हैं । मगर ऐसा हुआ कम है । बल्कि कहा जा सकता है कि बिल्कुल नहीं हुआ । मैं खुद भी फिल्मों में था और फिल्म से हटा इसीलिए कि वह मुझे पूरी तरह अपनी ओर खींच रही थी । जबकि मुझे उसके अंदर इतनी आजादी नहीं मिल रही थी एक्सप्रेशन की जिससे मुझे सतोष हो । चुनावों में बंबई से ही हट गया था ताकि मैं उस रास्ते से ही हट जाऊँ, क्योंकि उस वक्त पैसे कमाने की समस्या हमेशा मौजूद रहती थी । यह वह जमाना था । पर इस वक्त यह जो नया रूझान नौजवानों में, ड्रामा-थिएटर करनेवालों में फिल्मों की तरफ आया है और ये लोग जो इंडीवीजुअली या फिल्म फाइनेंस कांफ़रेंशन के जरिए या अन्यान्य माध्यमों से फिल्में बना रहे हैं, या ऐक्टिंग में आ रहे हैं, इनमें थिएटर का अच्छा प्रभाव मिलता है । और अच्छी अनकनवेंशनल फिल्में बना रहे हैं, या उनमें काम कर रहे हैं । ये लोग नये किस्म का आडियंस पैदा करेंगे, जो कि ड्रामे-थिएटर की तरफ भी ज्यादा जायेगा । यह मैं कतई नहीं कह रहा हूँ कि ये सारे ड्रामे-थिएटर के प्रति वफादार रहेगे या वापस आ जायेंगे । कुछ ऐसे हैं जो हमेशा के लिए फिल्म में जा सकते हैं । ऐसे लोग जो सही मानों में नाटकवाले हैं, और जिनकी घुट्टी में वह चीज शामिल है, वे आयेंगे ही । लेकिन जो फिल्मों में रह जायेंगे, और अगर वे उसमें भी परिवर्तन ला रहे हैं, तो भी हमें फायदा ही होगा । क्योंकि इस वक्त कई बरस की खराब फिल्मों का जो गलत असर जनता के दिलों-दिमाग पर पड़ा है, उसकी वजह

से वह कोई भी चीज देखने को तैयार नहीं है सिवाय बर्बई की घटिया फिल्मों के ।

विभु कुमार आपने छत्तीसगढ़ का चप्पा-चप्पा छाना है । क्या आप की कोई योजना नहीं है कि एक कथा-फिल्म या वृत्तचित्रों के माध्यम से इस अंचल की संस्कृति को पूरे देश के समक्ष रखा जाय ?

हबीब तनवीर मैं छत्तीसगढ़ी भाषा, संस्कृति और कला का बहुत कायल हूँ । और एक जमाने से मेरे दिल में खुद यह चीज बनी हुई है कि एक क्या, बल्कि ज्यादा डाक्यूमेंटरी फिल्में बनायी जाये । फिलहाल मैं इस सोच में हूँ कि किस तरह से छत्तीसगढ़ की बिखरी हुई कला जो देहातो में पड़ी हुई है, उन सबको समेटकर एक बार रायपुर-जैसी जगह में रंगमंच पर लाकर एक ऐसी गोष्ठी की जाये जिसमें यहाँ के और बाहर के बुद्धिजीवी जमा हों । और आपस में बातचीत करे कि कितनी जान महसूस करते हैं इस कला में । उससे जो नतीजे निकले—उनसे हम फायदा उठा सकते हैं कि इस डाईलेक्ट में जो कल्चर मौजूद है उसके लिए क्या कुछ किया जा सकता है, और करना चाहिए ।

विभु कुमार . तनवीर साहब, इद्र लोकसभा नाटक आपने ट्रक पर किया था । मुझे लगा कि आपका यह प्रयोग एक प्रकार से 'स्ट्रीट प्ले' के समान ही है । और मैं अक्सर यह सोचता रहा हूँ कि आज के सामान्य दर्शकों को 'स्ट्रीट प्ले' के द्वारा ही ज्यादा से ज्यादा नाटकों की ओर मोड़ा जा सकता है और उनमें एक सही राजनीतिक दृष्टि भी पैदा की जा सकती है । आपने भी तो सभवतः इसी बात को मद्देनजर रखा था ?

हबीब तनवीर ' इस तरह के 'एजिट-प्राप प्ले' का, जिसे हम 'पोलिटिकल प्ले, भी कहते हैं, स्ट्रीटकार्नेर प्रेजेंटेशन बहुत मुत्तसिर होता है । इप्ता के जमाने में इस तरह के शो हम लोग बहुत किया करते थे । इस बार, इलेक्शन के जमाने में हमने चालीम दिन के अंदर बत्तीस मुख्तलिफ जगहों पर कोई बत्तीस शो किये । इसमें जो मोबिलिटी की जरूरत थी उसके लिए हमने ट्रक का उपयोग किया । अब मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूँ कि यदि एक से ज्यादा ट्रक हम उस तरह के बनाये तो उन मंडलियों को जो गाँव-गाँव घूमकर नाटक दिखाती फिरती हैं, उनको सहारा देने के लिए यह चीज बड़ी मददगार साबिन हो सकती है । मेरा खयाल है कि सरकार को भी इस तरफ तवज्जो देना चाहिए । अलबत्ता इसमें यह समस्या जरूर पैदा हो सकती है कि आप टिकट किस तरह लगायेंगे । लेकिन उसका भी, घेरा कनात वगैरह खींचकर, हल निकाला जा सकता है ।

विभु कुमार : अभी कुछ दिन पहले विजय तेदुलकर के नाटक सखाराम बाइडर को लेकर काफी-कुछ बहस चली । और सवाल उठा कि किसी भी साहित्यिक विधा के लिए इस प्रकार की सेसरशिप नहीं होनी चाहिए । कुछ का विचार था (ज्यादातर सरकार का) कि चूँकि इस प्रकार के प्रदर्शन से जनता पर बुरा प्रभाव पड़ता है इसलिए सेसरशिप आवश्यक है । आप क्या सोचते हैं ?

हबीब तनवीर सेसरशिप होनी चाहिए या नहीं होनी चाहिए यह है मुख्य सवाल । आखिर में कुछ न कुछ हद तक सेसरशिप तो रखनी ही होगी कोई भी गवर्नमेंट नहीं मानेगी । क्योंकि ऐसे भी ड्रामे हो सकते हैं, इतने ज्यादा ऐन्सक्योरेट किस्म के, इतने ज्यादा खतरनाक किस्म के, या इतनी ज्यादा बदमजाकी फैलाने वाले कि आप-हम खुद कहेंगे कि ऐसे ड्रामों पर कुछ न कुछ पाबंदी लगनी चाहिए । लेकिन आर्ट और कला के मैदान में मैक्सिमम आजादी लाजिमी शर्त है । उसे पहले पनपने देने का मौका मिलना चाहिए जो कि अभी ड्रामे और थिएटर को नहीं दिया जा रहा है । ड्रामे और थिएटर के सही विकास के लिए मैक्सिमम आजादी पहली और आखिरी शर्त है ।

(नटग, अंक 21)







## हदीसे राज़ो नियाज़

तुझे भी याद है वह अहदे दोस्ती अपना  
कहा था साथ लिखेगे हदीसे राज़ो नियाज़ ।  
फिज़ा की गोद से फूटेगा नगमए-सहरी  
सकूते शब मे जो छेड़ेगे हम दिलो का साज ।  
खिजा का दौर है लेकिन सिखा ही जाएगे  
हम इस उजाड चमन को बहार के अदाज़ ।  
कहा था जीस्त की तारीक शब महक उठे  
करेगे फाश कुछ इस तरह ज़ख्मे दिल का राज ।  
ये रात जुलूम की ढल जाएगी तो हम इक साथ  
खुली फिजा मे दिखाएंगे मस्तिये-परवाज़ ।

मगर ये रात हुई है कुछ और भी बेनूर  
निगाह मे लबो रखसार की ज़िया भी नहीं ।  
अभी थी दिल पे किसी की निगाहे लुत्फो करम  
पर अब ये है कि कोई ख जर-आज़माँ भी नहीं ।  
सभी से खन्दए जाहिर की दाद मिलती है  
मगर कोई गमे पिनहा को पूछता भी नहीं ।  
कही से जा के तेरी रहगुज़र से मिलता हो  
मेरी नज़र मे कोई ऐसा रास्ता भी नहीं ।  
बाए हमा सितम ओ रजो ग्रम, बाए हमा ज़ौर  
खुशा वकारे नफस जीस्त का गिला भी नहीं ।

सदा रहे मेरी राहो से दूर दूर मगर  
इसी तरफ को निकलती है तेरी राहे भी ।  
हैं तेरे लब पे भी नगमे वही बहारो के  
बहुत दिनो से हैं बीराँ तेरी निगाहे भी ।

मेरी नवाए सहर मे गुदाज तुभसे है  
 मुझी से है तेरे नाले भी तेरी आहे भी ।  
 मेरी तरह तेरे हाथो मे भी वही परचम  
 किसी को ढूँढती फिरती है तेरी बाहे भी ।  
 मैं इक हुजूम के हमराह और यू तनहा  
 मैं सुन रहा हूँ यही से तेरी कराहे भी ।

है अब भी अजुमने दिल को इतजार तेरा  
 चिरागे जीस्त जला शम अजुमन बनकर ।  
 निकल भी जा मेरे जिन्दाने दीदए नम से  
 लबो पे खेल तबस्सुम का बाँकपन बनकर ।  
 मताए नूर को मत कर शिकारे जुल्मते शब  
 उफक से गम के उभर शौक की किरन बनकर ।  
 नसीमे सुब्ह की मार्निद सहने दिल मे उतर  
 शमीमो जयजमा औ' रग की दुलहन बनकर ।  
 बस आ भी जा कि चले साथ मजिलो से परे  
 बढे पयामे बहार चमन चमन बनकर ।

शबे सियाह मे आ जैसे आफताब आए  
 दयारे थास मे आ जैसे इन्कलाब आए ।

ब'बई, 1952

## रामनाथ का जीवनचरित्र

रामनाथ ने जीवन पाया साठ साल या इकसठ साल  
रामनाथ ने जीवन में कपड़े पहने कुल छ. सौ गज  
पगड़ी पाँच

जूते पन्द्रह

रामनाथ ने अपने जीवन में सौ मन चावल खाया  
सब्जी दस मन

फाके किए अनगिनत

शराब दो सौ बोतल

पूजा की दो हजार बार

रामनाथ ने अपने जीवन में धरती नापी कुल जुमला  
पैंसठ हजार मील

सोया पन्द्रह साल

प्यार की रातें उसे मिली दो ढाई हजार

उसके जीवन में आई बीबी के सिवा कुल पाँच औरतें

एक के साथ पचास की उम्र में प्यार किया और

प्यार किया नौ साल

सत्तर फीट कटवाए बाल

सत्रह फीट नाखून

रुपया कमाया दस हजार या ग्यारह

कुछ रुपया मित्रों को दिया कुछ मंदिर को

और छोड़ा आठ रुपये उन्नीस नये पैसे का कर्ज

बस यह गिनती रामनाथ का जीवन है

इसमें शामिल नहीं चिता की लकड़ी, तेल, कफन

तेरही का भोजन

रामनाथ बहुत हँसमुख था उसने पाया एक सन्तुष्ट सुखी जीवन

बोरी कभी न की  
कभी कभार अलबत्ता कह देता बीबी से झूठ  
गाली दी, दो तीन महीने में एक-आध  
एक च्यूटी भी नहीं मारी  
बच्चे छोड़े सात ।  
भूल चुके हैं गाँव के सबलोग अब उसकी हर बात  
रामनाथ !

दिल्ली, 1962

## ग़ज़ल

तजकरा जफ़ाओ का  
अशक़ खू की सूरत में  
ग़म की तरज़ुमानी है  
मुझको ग़म से क्या लेना  
पर मेरी वफ़ाओ की  
इक यही निशानी है ।

शाद काम-ओ-आसूदा  
कब तेरी मुहब्बत है  
काश तू समझ सकती  
अपने साथियों का ग़म  
अपनी जिन्दगी का ग़म  
क्या ये जिन्दगानी है ।

रग़ोबू के अफ़साने  
हो न जाए पज़मुर्दा  
निकलते न मर जाए  
हर्फ़ हर्फ़ में पिनहा  
है खिज़्रा की वीरानी  
ज़ुल्म की कहानी है ।

दादे सब्र देते हैं  
दर्द और बढ़ता है  
खाक उस तसल्ली पर  
इन्तहाए दिल मालूम  
दिल के दुश्मनों को भी  
जोम-ए-पासबानी है ।

ये तिलस्मे ज़रदारी  
एक ही इशारे में  
हो गया तहोबाला

साकिया न जाने क्या  
 तेरे इकलाबी ने  
 अपने जी मे ठानी है ।  
 क्यू नहीं समझ पाता  
 क्यू निगाह जाती है  
 मजिलो से भी आगे  
 राहबर है दीवाना  
 काफिले की नजरो ने  
 किसकी बात मानी है ।  
 हुस्ने रूए गेती पर  
 है दवाम का परतौ  
 अक्से रायते अहमर  
 अब यहाँ का हर लमहा  
 जिन्दा और पायन्दा  
 और गैरफानी है ।  
 आज तेरे आँचल की  
 नर्म सरसराहट मे  
 बिजलियो के तेवर है  
 और ये बर्क अब मुझको  
 ऊँचे ऊँचे महलो पर  
 आज ही गिरानी है ।  
 वह भी महवे हैरत है  
 अब मेरी वफाओ पर  
 बदगुमा है महफिल भी  
 उनके सामने 'तनवीर'  
 आज तेरी बातों में  
 किस कदर रवानी है ।

बम्बई, 1978

## गीत

यही हमारी महतारी, ये धरती इतनी प्यारी  
यही हमारी महतारी

पर्वत बन अभिमान दिखाती, बन के नदी इतराती ।  
सूरज को भी यही बुलाती, चाँद का दर्पण लाती ।  
तारो की महफिल गरमाती हवा का गीत सुनाती ।  
यही हमारी महतारी . ।

रग भी हस हस कर बिखराती, सुगंध भी बरसाती  
पेड़ के पत्तों के मगीत पे मीठे सुर मे गाती ।  
बादल के मादर पे मचलकर झूम-झूम लहराती ।  
यही हमारी महतारी . ।

छाती से लिपटाकर बालक को बलवान बनाती ।  
अपने मुह का निवाला देती, हमको वस्त्र पिन्हाती ।  
हमको कभी ये दड भी देती, हमको कभी हसाती ।  
यही हमारी महतारी . ।

चपा चमेली गुलाब गेदा फूल भी है हर जाती ।  
है खरगोश हिरन और बदर, भालू शेर और हाथी ।  
ये सब पशु पक्षी ये फूल ये सब बचपन के साथी  
यही हमारी महतारी ..।

हम धरती के लाल है, धरती के सैनिक भी हम है ।  
हम जंगल के वासी जंगल के रक्षक भी हम है  
सेवक भी पेड़ों के हम है, और मालिक भी हम है  
यही हमारी महतारी . ।

हिरमा की अमर कहानी से  
रायपुर, 1985

## गीत

अब रहिये बैठ एक जगल मे, सब कुछ तजकर बैराम लिये ।

वो करम की गठरी सर पर है, और बोझ भी उसका भारी है ।  
कुछ बोझ से पाँव रुका भी है, कुछ चलने की तैयारी है ।  
कल और किसी की बारी थी, अब आज हमारी बारी है ।  
एक नींद का भोका आता है, यानी बहतेरे जाग लिये  
अब रहिये बैठ एक जगल मे ।

ये धन दौलत भी बधन है, घर बार गृहस्थी बधन है ।  
बीबी बच्चे बटमार भी है, बढ़ती सम्पत्ती बधन है ।  
खुद तेरा दिल गद्दार भी है, खुद तेरी हस्ती बधन है ।  
वो जितने दोस्त हमारे थे, सब एक एक करके भाग लिये  
अब रहिये बैठ ।

औरो को सुख पहचाने मे भी, जुल्म का पहलू शामिल है ।  
दुनिया मे नाम कमाने मे भी, जुल्म का पहलू शामिल है ।  
खुद दानिस्ता मर जाने मे भी, जुल्म का पहलू शामिल है ।  
आखिर कब तक ये हाय हाय, एक अभिलाषा की आग लिये  
अब रहिये बैठ एक जगल मे ।

देख रहे है नयने से  
दिल्ली, 1992



**HABIB TANVIR on THEATRE**  
**Essays and Interview**

## **Contents**

What happened ?	153
Brecht for One Producer	157
Producing Lorca	162
Shivpuri's 'Rajhans'	170
Interviewed by Rajinder Paul	175
The Indian Experiment	199
The Crisis of Identity and the Question of Authenticity in Theatre	210
Drama through Synthesizing Rural and Urban Cultures	214
Some Comments on <i>Charandas Chor</i> and Theatre in the Rural Areas	221

## What Happened ?

Professional theatre was tried in Delhi but it didn't work. It was ten years after independence that the first experiment in that direction was made.

One or two other efforts were made on the same lines during the last decade but they all came to naught. That is one record. On the other hand, the amateur theatre also suffered a big setback during the two decades just over. As a result, no significant drama group has emerged in the Capital. If you look hard, actually there is no group at all, or is there ?

In the absence of theatre enthusiasts of talent and imagination sticking together, purposeful drama activity was impossible. The next best thing was to attempt a repertory theatre, in which with each play you change the producer and the cast. Considering the migratory tendency of Delhi's actors, this was a shrewd idea. You hardly required a group of artists to run such a theatre, an efficient managing committee was enough.

The shortlived but productive Theatre Workshop demonstrated during the fifties that it could be done. Confining themselves to English plays, frequently taken from out of the much-publicized Broadway or West End hits, they catered to a particular section of the people of Delhi. Their audience included members of the diplomatic corps and many other foreigners, for whom Delhi hardly provides any entertainment.

There are no cabarets, no concerts, no night clubs—nothing to fall back upon beyond the boredom of cocktail parties. No one is more acutely conscious than the sufferers themselves of the need to find ways of spending the evening somewhat more interestingly. Creatively inclined people from English speaking countries sought relief in giving themselves to acting and producing either for dramatic societies formed by themselves such as the British High Commission ADC or theatre groups with similar aims and scope organized by Indians.

A big spurt to this activity was given by the fact that whenever in a play some ladies and gentlemen of foreign origin participated, not only the remaining population of Chanakyapuri and Diplomatic Enclave thronged to the theatre but many native sahebs and memsahebs took pride in mingling with them. The old colour bar practised in clubs and elsewhere under the Raj existed no more. There was no need for it. The bara saheb saw to it before he quit India that the new saheb class of natives created by it carried on the cultural legacy. The class difference is of course sharpened but there is no colour bar.

English plays therefore seemed to pay their way. As new groups took to producing plays in English, initiative was wrested from the Hindi theatre. The latter was forced to toe the line. The process was accelerated by the bilingual groups, which managed to draw for their Hindi plays a section of the same audience which so fondly gave them packed houses in their English presentations.

Coming mostly from the saheb class, this audience of course prefers to go to see English plays, no matter whether they are done by foreign or Indian actors, the Hindi plays poorly attended in any case merely get patronized. Copying does not help standards. In catering to this particular audience, the imitative Hindi theatre hardly improves. Other sections of the audience, consequently, find it unattractive. Meanwhile, the theatre moves in a vicious circle.

Hindi drama groups fare no better. How could they? After all, who are the people who run these groups? Social rebels? Not at all. Mostly they are tame young men, who cannot see beyond the education they received. They learnt their dramatics from their professors of English, who themselves attach far greater value to quotations from Oscar Wilde, with proper Oxford accent, than to original thinking. Else they learnt it in the theatre school, which amounts to the same thing. Where else would they learn theatre from? There hasn't been any theatre to speak of in this country for hundreds of years. Meanwhile, we learnt English and began to attach great importance to the sahebs' culture.

Whatever leaders like Raja Rammohan Roy, Sir Syed and Pandit Nehru may have meant when they sought to introduce and perpetuate a Western system of thought in the name of education of the masses, they certainly ended up making Indo-Anglians of us all. And if some of us have turned out to be rank chauvinists it is a result of the same phenomenon, for surely it was in reaction against Indo-Anglianism that some pundits and their followers began to talk in terms of an impossible revival of our Sanskrit 'Sanskriti' and our Bharatiya 'Sabhyata'. They advise us to avoid the devil and plunge into the bloody ditch.

This in a nutshell is our present cultural position. If these two extreme ends of our sensibility could manage to find a forceful dramatic expression, we could still hope to be getting somewhere through the conflict. But even this isn't

happening. Instead, an insipid, non-experimental, middle-class theatre that has turned away from the people, their life and their form of expression, is being pointlessly pushed.

Only a full-time professional theatre or a dedicated group of artists of vision, hanging together for a period of time, could produce viable new forms of theatre capable of reaching out to all classes of people. And this only if they turned to the grassroots of our life and our culture through sustained efforts, popularly supported.

All other types of theatre are welcome, they serve some purpose or the other. But the real thing—the genuine theatre—does not exist in the Capital. That is the lament.

*Enact*, August 1967

## Brecht For One Producer

It was not merely because both Garcia Lorca and Bertolt Brecht belonged to the so-called 'generation of '98', known for their efforts to bring pure poetry into all the branches of the arts, that I picked up plays by these two authors for production. Nor did I produce the two plays, Brecht's *Good Woman of Setzuan* and Lorca's *Shoemaker's Prodigious Wife*, just because these in all probability had not been done in this country before.

I did these plays for more or less the same reasons for which I take up a play, say, by Shakespeare or Shudraka. Both Lorca and Brecht possess an epic, lyrical quality—a strain common to Elizabethan drama as well as our classical and folk theatres.

In form, they are closer to us than perhaps most other modern playwrights. Both Lorca and Brecht, for one thing, had imbibed oriental influences—Brecht Chinese and Indian,

and Lorca Moorish and Gypsy Above all, however, they are two of the most advanced and prolific modern poets of the world who profoundly reflect the spirit of our age, though on different planes Both the poets were rooted in the classics as well as the folklore of their countries Singers and ballad-makers both, they often conceived their plays in the epic form of a popular song, so to speak Interweaving verse with prose, they strove towards that plastic, musical and dramatic unity in theatre which is so eminently worth emulating for us here in India That is the kind of homogeneity, which in fact should become the hall mark of the theatre-to-be in this country—a homogeneity native to us and still to be perceived in our traditional theatres but not in our contemporary dramatic endeavours

Being sensitive poets, living in difficult times full of the worst political upheavals, both Brecht and Lorca reflected their countries' aspirations on the most aesthetic and the deepest social levels Here, however, the parallel ends and divergences begin These too are of interest—the greatest difference being that Brecht's is an analytical, supremely intellectual theatre in a sociological sense, as against Lorca's with its intuitive striving for a kind of subliminal celebration of deeply felt dream images

I have feelings only when I have a headache, never when  
I am writing for then I think

In these lines from one of his poems, Brecht himself clearly states his attitude to writing This, however, is to be taken with a pinch of salt, for Brecht's eminently intellectual approach to play-writing does not exclude the creation of highly individualized, angular characters In yet another poem—a song from a play—he says

Man lives by his head

His head will not suffice

You have a try ? Your head will not

Need more than a few lice



Because for this existence  
Man has not brains enough

Brecht's poems, which he incorporates in his plays, are usually sung by a chorus that occupies an extension on the right of the stage at the Berliner Ensemble. They are however not like the songs in Hindi films that come as so many unnecessary and bothersome appendages, impeding the dramatic progression of the story—that is on the rarest occasion when a Hindi film boasts of a story.

On the other hand Brecht's songs enhance action, serving at the same time as a pungent comment upon the action. They are integrally related to the main body of the drama, as in the case of some of our good folk plays.

The songs also represent one of the main hurdles in the production of a Brecht play on a non-German stage. And the same is true of Lorca. Do not sing but only chant the songs, the play tends to become heavy and dull. Recite them as you would recite lines in an Eliot play or maybe a Greek classic, and they ruin the effect. Translate them into indifferent Hindi and get them sung to Indian tunes, most probably you would end up by making the play too light, bringing it close to a cheap 'nautanki' or a bad Hindi film. Another hurdle in the performance of plays by Brecht on a non-German stage is a certain inevitable lack of authenticity in character-building—a most fundamental aspect of character being a man's tongue. Indians generally would lack this authenticity even in plays originally written in English for English with us is an acquired culture. On the other hand, Indians acting in the English version of a play written originally in another language, are perhaps rewarded by a special, though negative, advantage. Speaking English language as we do in our own special manner, we would probably get away with pretending to be the alien, non-English speaking characters of Lorca or Brecht, better than the English-speaking British or American actors.

As far as my production of Brecht's *Good Woman of*

*Setzuan* was concerned, I saw the problem like this here were Chinese characters, originally conceived in German, rendered into American English, to be spoken by multilingual Indians. Since from the audience view-point, the 'alienation' could not be more perfect, paradoxically there was a better chance of the Brecht characters coming alive with Indian actors than, for instance, with American

We did try to seize on this chance. We did this by not trying to intone the English words in the English or American way but by speaking them in our own various native styles in both Brecht and Lorca plays. Beyond voice projection and a certain intelligibility of words, no further effort on speech was wasted. Presumably our approach gave us a quaint variegated effect, produced by our numerous regional accents from Patiala to Trivandrum and Baroda to Gauhati. What we must have lost on this account was equally beyond our control. For one thing, we had no choice, as far as acting talent was concerned. The play was being done for University lecturers who had come from many parts of the country to attend a course of dramatic training, arranged by the Education Ministry, and the participants of the course also comprised the cast of the play.

As for the problem of singing the verse, we bypassed it, but instead of chanting the lines, as one would in a Greek chorus, the actors directly addressed the audience in a chatty manner whenever they came upon verse. In this particular area, therefore, we strove for 'alienation' from another direction. The direct talk with the audience made the play seem so much more like the make-believe it was. At least, it was hoped that this would produce the right effect, if in a small way.

Anyhow, I present only some production problems that faced one particular producer of a Brecht play. They by no means exhaust all the problems. The most important point, however, is that even if satisfactory solutions to all problems

presented by the most complex Brecht play were eventually found that still gets us nowhere as far as the theatre in India is concerned

We need to dig into our roots and evolve our own forms of theatre that can adequately mirror our own special problems. In this too, Brecht is a great teacher. Above all, Brecht teaches you to be yourself. It is a paradox, therefore, that if Indian playwrights evolve a truly indigenous theatre, it will be a truly Brechtian theatre as well. In other words, it will be a theatre that not only would have imbibed the folk and classical traditions of India, assimilating music and dance forms into drama, but one that would be universal at the same time.

Consider, for instance, the lines that follow in the Indian context

What meanness would you not commit, to

Stamp our meanness ?

If, at last, you could change the world, what

Would you think yourself too good for ?

Who are you ?

Sink into the mire,

Embrace the butcher, but

Change the world it needs it !

*Enact*, March 1968

## Producing Lorca

An attempt was made to drown the] camp in Spanish atmosphere our rehearsal hall across the road boomed with Flamenco music during breaks , a recorded production of *Dona Rosita* in the original was played to a rapt audience , the awe-inspiring people of Goya's drawings were projected through a film , some important plays and poems of Lorca were collectively read , and lectures were delivered on the theatres of Lope de Vega and Lorca in the perspective of European theatre trends.

Around this central point of the course, practical hints were given regarding costumes, sets, lighting and make-up with particular reference to the Lorca play

During casting and through rehearsals, improvisation played a dynamic role Exercises evocative of the most abstract fancy were tried, together with improvised stories more directly applicable to the requirements of the play

For instance, people would be asked to demonstrate through movement an image from a Lorca poem such as 'a tree-tethered sea'—a complex picture engagingly created by a girl in terms of, first, a movement denoting sea waves, turbulent but shackled, and then a posture signifying the tree

Three interesting variations were presented of the theme : 'the flight of a deer in an infinite bosom of whiteness', an image from another poem by Lorca. One girl attempted to embody in a statuesque pose a deer in flight, with infinity in her eyes. Questioned about whiteness, she retorted, 'Infinity is always white'. Another ran across the stage, gracefully bouncing like a deer with a sensation of freshness in her face, which she would attribute to the surrounding whiteness she visualized. Yet a third came like a famished deer, digging into the snow for food and dying. The best improvisations were considered those which needed no verbal explanations. The agonized death in the last exercise was an interesting interpretation of flight into infinity. But the snow needed to be explained. Her story however seemed to require no snow for interpreting whiteness, as death itself would appear to be white.

At one point, everyone who felt so inclined was asked to improvise freely to a lusty and anguished Flamenco song played full-volume. The record was played long enough for everyone to relax and feel like moving on to the stage.

By and by, they all joined. A most fascinating scene ensued, in which in a corner a girl danced like a gypsy gazelle, another made minute bridal preparations, bedecking herself for the expected lover who never arrives, a weary traveller trudged along and stopped by to unburden himself of his invisible knapsack, to have a swig of water from an imaginary tap, an energetic woman busied herself with endless morning activities vigorously pursued, such as brushing her teeth, eating an enormous meal with conspicuous relish, while some boys sat in another area gambling quietly till the climax spontaneously flowered in the form of a dagger plunged by one

gambler into the breast of another. A Muslim saying his prayers all this while could still be seen in the background.

Flamenco music could never more diversely be interpreted. The scene was like a rich symphony or a painted panel, in which the space was divided by an adroit medieval artist. It was apparent from this twilight scene humming with passion and activity, sadness and humour, that the group as a whole was possessed by the spirit of Spain.

Having obtained my provisional cast, not yet announced, I asked the group to enact the following story: an exquisitely pretty bird, pursued by three vultures, with hyenas prowling around, is caught in the end by a birdcatcher.

The obvious bearing of these stories upon our text was never discussed at the moment. The stories themselves were told by me in minimum, though evocative, words; characters were assigned, but no further stage instructions were given. The stories were to be enacted in terms of mime and movement without the aid of words.

It must have been clear to most of them from the beginning that the neighbours of the play were here transformed into hyenas, the three lovers of the shoemaker's wife into vultures, and the shoemaker himself into the birdcatcher.

The allusion became more explicit in later exercises such as: an attractive woman watching the sea by Marine Drive in Bombay is approached by three troubadours; a dejected lover comes and sits some distance away; a crowd of men and women surges in inquisitively; a stuffy policeman saunters up, drives away the lovers and crowd, himself preparing to make passes at the young seductress; the woman starts stoning the policeman, who takes to his heels; upon which the dejected lover raises his head, recognizes his wife, and convinced of one another's faithfulness, they unite.

Under this thin disguise the entire story of the play, in skeleton form, was being enacted now, the policeman of the

exercise representing authority, which in the play belongs to the mayor

Having got into the spirit of these exercises, and moving like puppets birds and animals with zest and abandon, relaxing their limbs and exercising their imagination to the full, the cast managed to get a spontaneous grasp of the essential flavour of fantasy in *The Shoemaker's Prodigious Wife*—a play originally intended for puppets and related to Lorca's earlier puppet farce, *The Tragicomedy of Don Cristobal*

The tragic atmosphere in our play was as important for the production as the comic one. For though described by the author as a 'violent farce', it deals at the same time with the story of a barren woman, pugnacious but poetic, who, in Lorca's own words, 'struggles constantly with real ideas and objects because she lives in a world of her own where each idea and object has a meaning mysterious to her. She has lived and has had sweethearts only there, on that farther bank, which she can never reach'

Lorca depicts in the play 'the struggle between reality and fantasy meaning by fantasy all that which cannot be realized — a struggle common to all of us at bottom'

In other words, *The Shoemaker's Prodigious Wife* not only contains the fundamental basis of all the plays of his earlier phase, including *Don Perlimplin* and *Dona Rosita*, but also anticipates *Yerma* and indeed all the tragedies of his maturer years

The cast was crystallized in a week. Rough plotting of both the acts of the play was done comparatively speedily in about three days. It took another five days' rehearsal to achieve the first blundering run-through. At this point we were left with three more days for polishing the production before the Dress Rehearsal, with a *Shoemaker's Wife* who was emerging as the severe bride from *The Blood Wedding* rather than a gay character in a puppet farce

The tragic-comic effect was more easily achieved in the

case of some supporting characters. For instance, Don Blackbird, the more sanguine among the lovers, was asked to move like a big puppet bird but because he is also a symbol of death, he was to wear the expression and manners of a westernized 'Yam Raj' or a vindictive death seeking Don Juan. I think he ended up behaving like a graceful cross between an affectionate cawing puppet-bird and a sinister mincing bull-fighter. Both poetry and comicality were perhaps much better captured in the rhythmic speech patterns and highly stylized grouping of the neighbours—that 'belt of thorns and guffaws' around the shoemaker's wife. A compensation for the general lack of humour, some situations lending themselves to comic possibilities were bloated, in spite of the risk of obtaining patchy results.

Even the unnatural little boy, the only friend and bond of fantasy for the little wife, was coming along with his pert speech and unfailing timing. The hardest work till the very end needed to be done on the husband and wife.

I had chosen my Shoemaker for the genial, robust and earthy looks he possessed, as also for the dexterity and exactness his fingers displayed, in miming work like that of a carpenter or a bus conductor in some of those improvisation exercises. Thus his movement and all stage business as Shoemaker were convincing. He even had something comic about him, which only needed accentuation. He lacked speech rhythm and voice projection, on which all his labours were turned.

The Shoemaker's Wife, who had a resonant voice and a sensitive approach to poetry, had smooth sailing on the plane of fantasy. But whenever she came down to earth, she became too intense even in her pugnacity.

I ceased to talk to her of the sombre under-currents of the play, refusing to discuss them to the point perhaps of denying their very existence. Were it not for her dedication, my pains alone would hardly have helped her overcome her deep-seated fear that she might land on the stage as a music-hall come-



dienne I praised all burlesque and vaudeville shows with overt exaggeration, though not without a grain of truth, but without any appreciable result. Finally, as a desperate measure, I asked her to try to bluff and fool through rehearsals, parodying, as it were, her own performance just to help me see how best she could be guided. From that day on, her graph of performance moved constantly upwards in the direction of genuine comedy.

This assessment has nothing to do with the comparative merits of her performance—clearly the most outstanding from the start, neither is it intended to take away anything from the unstinted ovation showered on her from every direction.

So sober in fact was my entire cast that even after a desperate attempt on my part to graft slapstick on it here and there during the last days of the rehearsals, the production remained innocent of that violent farcicality which a puppet play such as this can amply accommodate without harm.

The emphasis in my problems had clearly shifted, whereas I was anxious at the outset to safeguard the tragic note of the play, towards the end I was all too concerned about the element of farce. Normally in amateur productions, the latter would seem to be the easier to achieve. So different indeed was our cast in this respect that even the puppet show, with which the disguised Shoemaker beguiles his wife in the last scene in order to test her faithfulness, struck a kind of tragic, passionate note, and not at all a farcical one. This will be better appreciated when it is realized that instead of the shoemaker-puppeteer singing his true and moving ballad of the rubicund wife and the poor, patient little husband with the aid of the painted pictures on his scroll as Lorca intends, we had introduced the puppet characters of the story, large as life, in the form of four masked actors and one actress, moving like puppets and sometimes taking the dialogues in the song from the puppeteer's mouth and hamming them like blustering rural players.

The idea of course had come from our early improvisations.

It not only helped us bring a climactic into the scene, in spectacular terms, but it solved yet another of my problems as well—that of utilizing maximum talent in a group larger than this play would apparently allow for. Some of these puppet actors were slick in movement but rather incomprehensible in their speech. As puppets therefore, they were put to the best possible use.

Imagine the effort they had to make at clarity in speech in the light of the fact that I was constrained to ask them to take a breath almost literally after every phrase. Even then, the effect was solemn to a startling degree when the puppet-shoemaker's wife conspiring with her puppet-lover about her husband's murder, asks him, 'Will you kill him straightaway?' and the lover replies with a gay flourish

This same night when he's returning,  
with his leather and his horsehair,  
where the water ditch starts curving

The solemn effect, partly created by the words themselves, was made almost uncanny by the line that followed like a high unfinished note from a Flamenco song

Just at that point, an anguished scream is heard outside, followed by the entry of the Neighbour in Black, who yells with outstretched hands, 'They have drawn their knives.' The actress delivered this line on one staccato note, and its effect was that of a drawn sword. We were at once transported back to the pristine Lorca with his Golden Age theme of blood and honour and that perennial symbol of passion as well as death the knife, that 'glowing branch of precious stones', which killed Perlimplin. 'Knives, knives', says the Mother in *The Blood Wedding*, 'cursed be all knives, and the scoundrel who invented them.'

Yet, I think comedy was fully restored towards the end, when in surprised recognition, the Shoemaker's Wife re-unites with her husband with cheery words, 'Oh, this scoundrel, oh, this villain.'

Whatever Anita (the actress) might have been thinking of as she uttered these words, holding her husband by the hair—I am still not sure of this—it was plain for all to see that she was performing in a comedy and nothing but a comedy—one, moreover, which was hard to save from sentimentalism, but for its author's masterly end. The Spanish music, particularly the Flamenco, the rhythmic movements of the neighbours, and choreographic effects in the tableaux achieved at the end of each act, were all part of an attempt to capture some of the lyrical, balletic qualities in the play. The lyricism of Lorca's play was certainly not all there. We might have captured it in some places and to some extent, as dialogues containing the element of fantasy, or what might better be called the poetic super-reality of Lorca, were concerned. But the lyricism in the songs—the shoemaker's ballad, the neighbours' chorus, or the little boy's hymn to the butterfly—had to be sacrificed, of necessity, as we could not get them sung as the Spanish would have them. We merely chanted them all, as we had done with the songs in Brecht's *Good Woman of Setzuan*. And sometimes, I think, we made rather a hash of them.

*Enact*, April 1968

One has no quarrel with this theme. But if the idea was to show the deep unrest that has beset man in all ages, it could be achieved equally well by a simpler plot. The point is worth elaboration, for it is also related to production

Suppose, after all the turmoil and conflict, the weak and impressionable Nand was forced by events to decide to go Buddhist in the end, would the theme of man's deep unrest have been lost? Simpler minds may object that the path of religion, of austerity and renunciation, is an escapist path, without relevance to our times. Equally simple dreamers may counterbalance this by declaring that that is the only path which has relevance and meaning for man to this day—the path of Nothingness. I mean it in neither sense. I see the events of the play related to their historical perspective. Viewed in that setting, Buddhism was a dynamic philosophy of life, which sought among other things to bring about radical changes in a caste-ridden society bedevilled by poverty, disease and death. It came as a social expression of the deep unrest that tortures man every now and again.

Much the same is happening in our times. Man's quest for a new way to live has again driven him to the extreme point of suffering. It is this aspect of contemporary life that might have gained significance if Nand's conversion was stressed against a historical setting which ruled out all misinterpretation of the path of mysticism, either as an escapist or an eternally desirable path.

But what about Nand's ego? What about his individual quest, his agony as an individual? It may be argued that the road of individual search that Nand takes in the end signifies the only factor that can be identified with our times. For we too have shaped new ways to happiness in the twentieth century, each of which claims millions of adherents, yet the nonconformist individual remains deeply discontented. This rebellion of the individual against all manner of Establish-

ment, both conservative and radical—it may be suggested—is the only worthwhile theme of our times.

If this was to be the theme, the dramatic structure of the play again called for another type of tragedy. If Nand's conversion to Buddhism was the end of the play, his character as it has been delineated by the author would still suggest the tragedy of the individual—in this case a man so feeble of purpose and so lost that he is forced to accept the only path open to him though his soul remains disconsolate.

It seems to me that no matter what theme was dear to the playwright, this end was the only one called for by the dramatic structure of the play. If the end was to be what it is, the play needed much change of treatment, specially towards the final scenes. As it is, it hangs in mid-air at the very moment at which you expect a climax or anti-climax. This fault perhaps partly emanates from a rather amateurish dialogue structure of the closing scene, which comes to us as a kind of school debate, that got turned through unimaginative handling into a domestic brawl.

What the play itself lacked, production ought to have striven to compensate for, to the extent it was possible. But Om Shivpuri's production only further denuded the play. To begin with Ebrahim Alkazi's set itself had done everything to shut out all environment except the domestic. The producer too, in his turn exclusively emphasized the domestic element of the play. The external world, full of an increasing number of Buddhist monks, that surrounded Nand's house, was never made perceptible. The sky was visible but against the horizon no saffron-robed saints were seen silhouetted. Instead, their chantings were heard through mechanical device, producing only occasionally a pleasant but most frequently a contrived effect. In this context, Sundari's humming of a snatch from a romantic song built up so much atmosphere, though briefly.

This error of exclusive emphasis made the final scene appear all the more ludicrous, when Nand came back home with his

hair shorn, accompanied by a monk—the first and last to appear on stage. Consequently, the whole argument between Nand and the monk, that followed, fell flat. This vacuum got further intensified by the fury that was to come next—the fury produced by the words of Nand and Sundari.

Sudha Sharma performed competently enough but never played Sundari's deep tragedy, while Om Shivpuri, who in his relaxed first moments seemed to carry the depth of the character, quite soon lost both the aspects of Nand—lover and intellectual. Sundari is a woman of great dignity and command endowed with a passionate temperament, wholly given to sensual pleasures, and not altogether devoid of insight into the minds and hearts of men.

Nand could have gained strength not only through his own words and actions but even through secondary characters such as Shwetang and Shyamang—the two servants of Nand's household. The text of the play suggests a strong affiliation between Shyam and Nand, and brings out Shwetang as an archetypal character that stands for all men of bureaucratic mould. The distress of Shyamang is not dissimilar to the one that Siddharth himself experienced. In Siddharth's case, it brought him revelation. In Shyamang's instance, however, his agony only brings him further anguish of body and soul. The words and deeds through which Shyamang is portrayed, however, make him seem rather a psychopathic idiot than the philosopher he is supposed to be. This lack in a character is matched by the performance by Virendra Sharma which is not based on any aspect of reality. And Bajaj romanticized the bureaucrat.

The intellectual companionship, which Sundari could not bring to Nand, Shyamang could have provided, but this is only remotely hinted, not translated in action. It might have been of some consequence to dramatize this, for the theme and climax of the play were to benefit from this. It would seem as if, almost habitually, Mohan Rakesh fights shy of building up

the obvious dramatic tension towards which he knows so well how to lead his characters. He appears to let his characters down just at the nick of time, maybe for some kind of an innate fear of the obvious, that might also seem conventional. If this is true, this fear would seem to be the surest way of getting one's style cramped. If it is not true, then how come both his attempts at playwriting, *Ashadh Ka Ek Din* and *Lehron Ke Rajhans*, suffer from a rather empty end—a bad drop curtain—which apparently could have been so easily improved.

There is always humour and irony in Rakesh's creations. The richest source of irony in this particular play is provided by the twosome of Shyamang and Shwetang, but this is made quite imperceptible in the production. On the other hand, there is always some very rich poetry in Rakesh's plays, some of which is well captured in the production—striking examples being the incidents of the broken mirror and Sundari's *bindi*, which she strives to keep fresh with water till her lord's return—both images pregnant with poetic beauty and eloquence and well exploited by the artistes to that end.

The production as a whole suffered from being more modern than historical. Authenticity was lacking in some of the actions of the characters—in the way a *diya*—not a candle—was snuffed out by a snuffer, for instance. A wrong gesture was called for by a wrong stage property. The same was true of the dressing table with its stool of the wrong height. Due to this, the actress could not take the particular posture in which traditional Indian women sit before the mirror so becomingly.

*Enact*, January-February 1973

Originally published in *Mainstream*

## Interviewed by Rajinder Paul

Habib Tanvir is more or less a controversial figure in the Indian theatre. He is both erratic and temperamental. There have been many stories connected with his way of working—and the final end-product.

I have known his work since the Hindustani Theatre days. After producing the now nostalgic version of the Sanskrit classic *Mrichchhakatika* in a folk style as *Mitti Ki Gadi*, and a couple of other plays with his own group Naya Theatre like *Mirza Shorah*, *Sohrab Rustam*, *Shatranj Ke Mohre*, he lay dormant for nearly six years. Suddenly he came up with a production of *Mudrarakshasa* in a modern English version by P. Lal ( who has used words like 'reconnoitring' and 'scoot off' in his transcreation of the great Sanskrit plays ) Habib did it for an occasion—the Third UNCTAD Conference in New Delhi. The production had all the Tanvirian elements—interesting and innovative, but altogether an unintegrated



hybridization He was again quiet for a few years—perhaps grappling not so much with artistic as with economic problems—job hunting ( TV producer, drama critic )

Suddenly he received the Sangeet Natak Akademi Award in 1970 as the Best Producer So he revived his over-a-decade old *Agra Bazar* on the life and times of the popular poet Nazir Akbarabadi. It was well-conceived though shoddily executed as most of Habib's productions are Between the original conception and the first performance there has always fallen the spectre of under-rehearsal in his work He brought a touch of the daredevil to his production of *Mere Baad* for the Ghalib Centenary He carried the script in his hand throughout the play while playing Ghalib More than any other producer, Habib has been plagued by the lack of discipline of the amateur theatre Either it's the heroine or the hero who ditches him at the last moment

The present commitment and continuity starts with the Akademi Award Since then Habib has been working with Chhatisgarhi folk artistes ( like Lalu Ram and Puna Ram) and has in the last three years done several folk plays with these village actors He also did several street shows of an improvised agit-prop play during the mid-term elections He has been travelling around the country with his folk group and their folk comedies In Delhi, the fashionable set has lapped up these plays with much enthusiasm. My own reaction has been mixed At times these comedies have bordered on the crude. At best they have been enjoyed for some freshness though I have been hard put to comprehend their deep cultural importance That probably has prompted me to this long interview

Habib spoke very passionately and didn't stop even when I had run out of tape I had to run home to get a fresh one, otherwise it would have off-keyed his mood

I noticed a change in his style After being nominated to the Rajya Sabha, it seems he has become more optimistic about

the things that can be done under the prevalent system. Now he links up most of his future programmes with the monsoons or the next rabi crop. If agriculture looks up, so would culture. Very pragmatic, I should think.

Habib started his career (after odd bits in school days) like most others, with the IPTA, though fortunately his ambition to become a film actor did not come through.

PAUL In Delhi people know your work from the Hindustani Theatre and what became of the Hindustani Theatre is also recent history. Would you like to say something about your association and your work in the Hindustani Theatre?

TANVIR Right in the very early days of my coming to Delhi, i.e. 1954, I had written *Agra Bazar* and taken folk actors from around Okhla villages and mixed them with Jamia Millia actors, i.e. the middle class educated actors from the intelligentsia. And this experiment succeeded. We performed in the Jamia Millia open-air stage, and to this came Begum Zaidi and some other people from New Delhi. They liked it so much that they asked me to put it up in New Delhi. I said I didn't have the resources. They were so enthusiastic that they backed it and finally we performed it in New Delhi in Eastern Court. There used to be an open-air theatre in Eastern Court in those days.

And then we performed it everywhere, took it to Aligarh, and planned the Hindustani Theatre. Begum Zaidi undertook to translate twelve plays of my choice: some Sanskrit drama, some Ibsen and so forth. I was then going to England for my further theatre training at the Royal Academy of Dramatic Arts and in Bristol Old Vic. So it was planned that while I was away she'd do two things: translate twelve plays and collect enough money, somehow, to promote a professional theatre. As soon as I came back I would take over, there would be enough plays to go through the mill and we shall have started.

She did it according to schedule, on the dot. At the end of two years she had translated very nearly the twelve plays I had wanted and collected enough money. But I had not come back. I had extended my stay, I was busy looking at European theatre. Being a very efficient person, very aware of targets, she began the professional theatre in 1957 ( I'd left in 1955 ) with Monika Misra. She wrote to me that the theatre could not wait for me but I should come back as soon as I could. In 1958 I did come back and launched my experiment with *Mrichchhakatika* after Monika Misra's production of *Shakuntala* which was again an experiment.

I had been thinking about *Mrichchhakatika* for many years. At that time people did not quite see the point of why I did the *Mrichchhakatika* ( The Little Clay Cart ) in the folk style, though it became popular. It went to the Kisan Sabha conference in Aligarh and was immensely liked by the masses. At that time it was the most widely travelled play because it went to many parts of India. But at the end of it, of course, I had left the Hindustani Theatre and the experiment to that extent was stopped though I must say later Narendra Sharma worked along the same lines, carried on with his musical, stylized version of *Shakuntala*. And when Shama Zaidi produced *The Signet Ring of Rakshasa* it was in the same kind of general direction.

I carried on with the Naya Theatre which I founded in 1959 and continued the musical style and the folk technique which I used for Agha Hashar and also for Molière, and even for Sanskrit drama and my own play, *Agar Bazar*.

So Hindustani Theatre was a very significant turning point in the theatre of Delhi. Begum Zaidi had the most important role to play in this. She was the pivot of it and the driving spirit of it in every sense. Hers was the largest contribution and it came to nothing because of her demise. She died prematurely and too suddenly. The collapse came, as so often it is the case with theatre, because it was a one-man show. In

this case it was a one-woman show, more or less she was doing everything , and I think that's why she died so early

PAUL Before you left for England you were more or less settled in your views about the society here and the kind of work that you wanted to do You did look around for three years at the European theatre and had a very formal and rigid training at the RADA which is the base of our trained directors here because they follow the same pattern When you came back you almost picked up the threads you left behind. What happened in those three years abroad and what was the impact, or what did you imbibe, of the Western theatre that you later used to some benefit in the work that you did ?

TANVIR Strangely enough, in a fundamental sense what my observation of the European theatre did to me was precisely to turn me back to India even more intensely and much more vigilantly I realized that the eight years of formation that I had already spent in the theatre since my schooling in the IPTA days were not wasted and I concentrated on seeing everything that suited me, to the extent that I had to fight authorities in the RADA to allow me to leave earlier than other students I left much sooner than usual and they gave me a good report. I must say that to their credit. I said I had no use for the kind of acting they were teaching me because I was not going to act in that manner back at home I was not going to enunciate English words like they would have me I had to deal with my own language and it called for other kinds of jaw and tongue movements and lip formations than what I was made to learn there when I was made to say 'wa, wa, wa' for W So I said I would be content with my poor English, but for acting, it might even be damaging if I learnt too much when I went back and tried to act in Indian languages. This belief of mine got more and more strengthened as I observed and also as I practised theatre

I went over to the Bristol Old Vic to learn production, stagecraft and the technical aspects of theatre which I thought

were much more meaningful, and I must say were very useful. But in my European observations of theatre I concentrated mostly on Bertolt Brecht's dramas in the Berliner Ensemble. As you are aware, Brecht already had imbibed so much from the Eastern theatre traditions including the Indian. So it again made me look back at Indian traditions in a new light. I went on trying to produce *Mrichchhakatika* in foreign countries so that I could translate some of my ideas, but I couldn't get a chance, luckily. I don't regret it because otherwise I would have repeated all those ideas back at home. From Western techniques we have the proscenium stage, the lighting, the naturalistic make-up. I used them in the beginning as much as they were useful to my style of production. More recently I have begun to talk of and hope to be able to practise the kind of make-up already used by the rural actor in India. Very simple, very economical, very cheap. And also to do something about lights and stage formation—what kind of stage, what kind of auditorium, how the people will sit and how the actor will act. Unless we can go back to our traditions and bring a world consciousness to bear upon a knowledge of our own traditions, we cannot evolve the new kind of vehicle of expression which is necessary for a technological age where new demands are made. So something indigenous, something very very indigenous in so far as form, technique and presentation are concerned, but something thematically universal, modern, contemporary, belonging to our age, to the space age, let us say.

PAUL: I believe the breakthrough so far as you are concerned came with the very innovative production of *Mrichchhakatika* and till this day some of the theatre people who watched this production and were in a way involved with the Hindustani Theatre think it was a masterpiece. Now, would you agree with that? What were the innovations you introduced? Which were the influences that led you to them or were they your own?

TANVIR It is ironical that at that time it was not well taken as far as the Press was concerned in general. A professor of English who was interested in theatre and was on the executive committee of the Hindustani Theatre accused me of making myself the laughing stock of Delhi University. I kept quiet because I meant to project my own sneer through silence at that remark. But it was quite the universal feeling at that time amongst the intelligentsia. The tide has come full circle and now anybody who says that *Nai Nautanki* (as I called it then) is the laughing stock of the intelligentsia will himself become a laughing stock. I am very glad that *Mitti Ki Gadi* had a profound effect. It was quite a turning point, I dare say, though when they ask me to do it again I am not sure I want to do it again the same way.

The influence I used to feel was of the folk theatre. This Sanskrit play being a *prahasan*, it easily lent itself to being done in the folk style. Even this point was hardly seen by some of the pundits. It was not unnatural or going against the grain of the Sanskrit drama.

In order to refute the charge authentically, I didn't trust the middle class actors. I got folk actors to play some of the important plebeian roles in the play and mixed them with the actors from the intelligentsia, which I have also done in *Agra Bazar*.

But the difference between the *Agra Bazar* production of 1959 or any other production I did in Bombay and *Mitti Ki Gadi* was that the stylization was very great. I used songs which I got written, wherever there were verses in the Sanskrit text, in folk tunes and folk metres, guided by the belief that some of these tribal and semi-tribal folk tunes are so primitive that by introducing these tunes a certain primitive flavour would be given to the play.

That was one good reason. And then I got the actors to move in rhythm. I got drums beaten and actors were tied to that rhythm. That's why there were very vigorous rehearsals.

for nine months. There were classes in music, mime and dance. The rehearsals used to go on the whole day and it was very trying for the actors. At first they all listened to me tongue-in-cheek and smiled but later on they began to see the point. They didn't understand it when I explained it to them in words until I began to execute it in terms of drama, movement, music and dance.

Also there were some dances. So I got a Bharatanatyam dancer to play the Ganika's role—that of Vasantsena's. Then I used some acrobatics. I used just one simple circle. I didn't allow it to become a lopsided circle like a modern thing but I allowed it to remain a simple *nachyamudra*. And the choreography, the groupings, were arranged around that circle. It was mostly geometrical. I just moved either against the circle or with the circle when I choreographed. All of which gave it its stylization, also of course accompanied by masks, make-up and highly stylized costumes. Altogether, then, it looked both like a play in the folk style and a play which was done in the modern idiom.

Still there might have been some kind of a feeling of hybridization. I felt it at that time. Looking back on it now I find that I would like to do it in a different way. In the sense that I don't have to work so hard at it any more. I enjoy my work much more now and allow the actor to do what he pleases. I simply sit back and select and just occasionally interfere to say, 'there you are! This is it!' and clinch it. 'Repeat it, so that you don't forget it. Allow it to get crystallized.' But formerly I used to work on paper, diligently, draw every line, every little turn of the body, and tell the actor, 'You've got to move on that line and no other line.' I don't do that any more.

PAUL: I believe staging of classical plays is very important because we can through them discover the continuity, the roots, of Indian theatre as a basis for staging our modern plays. Since such plays have not been produced here, at least not

frequently, I'd like to know your opinion about their revival, their staging techniques, and whether you have evolved a kind of pattern that could be applied to classical drama

TANVIR No, not quite a pattern, but you're quite right about the fact that the classical drama, in any country, has to be the base for any kind of modern theatre movement. Michel Sandini in France proved it long ago, and many a producer in many a country has time and again asserted the fact that you cannot possibly be cut off from your classical traditions and hope even to think in modern terms or make any innovations

Now, in our country, the folk theatre and the classical theatre (and I think even this can be generalized for any country) are but two sides of the same coin, if they represent the same integrated culture. The Sanskrit drama, or any classical structure in drama, is but one terse crystallization of what has gone before it by way of folk traditions. Once it gets crystallized, you call it the classical structure. So the Vedic hymns being chanted round the fire is therefore the origin of drama in India as the Bacchanalia were the origin of drama in Greece, producing the theatre of Aeschylus. Similarly the theatre of Kalidasa, Bhavabhuti, Shudraka, Bhasa and Harsha was but the end-product of a long line of folk theatre practitioners. This is what George Thompson in his book *Aeschylus and Athens* points out very graphically and convincingly, taking the examples of the bushmen of Africa and the Australian aborigines and the Greek theatre tradition.

Not only has the folk theatre gone as a predecessor to the classical theatre, but quite frequently when the classical theatre has ceased to be, if there is a live tradition, then the folk theatre has carried on those same classical traditions. In this country the classical Sanskrit drama has ceased to be written or produced, for all we know for the last thousand years. But the one thing that has not ceased to be continued, or to grow, has been the folk theatre tradition. If you analyse it, in one



fundamental sense, whatever is in the structure of this classical theatre of Sanskrit exists also in most of the folk theatres of our country. It is the same epic approach, for one thing, to story-telling as in Sanskrit drama, it is the same imaginative way in which they visualize locations—imagine them, utter the verse in order to establish location instead of producing locations in terms of scenery—it is the same kind of poetic way of projecting the plot, it is the same musical and verse expression which go for dramatic progression in folk drama as in Sanskrit drama. That is why I have been persuaded to use folk theatre techniques for Sanskrit drama.

It's a very simple drama, the Sanskrit drama. The professor and the pedant have often tended to make it very obtuse and very esoteric and very heavy going in the name of Bharata, his *Natya Shastra*, little knowing what the *Natya Shastra* means. After all we don't have a very vivid example of it in terms of traditions being carried on.

Dance is different. Dance carries on those traditions after the revival of classical dance in India in the beginning of the twentieth century, but, on the other hand, we have no clue in what manner the classical actor used to perform. That is why I go about it in an utterly simple way. You remember, in *Mudra Rakshasa* (The Signet Ring) I just used nothing—no set, nor a platform—nothing but a cyclorama. And the actors moved in and out quite simply. Only their lines of movement, each time they described a different scene, differed one from another. The entry and exit points were different. So that you can visualize lanes and entrances etc. I know this is the manner in which the folk actors also perform. I have come to this conclusion, that if you want to interpret Sanskrit drama you must go back to your folk theatre traditions and draw from them, even take folk actors to introduce these techniques, and you'll get somewhere. The two together, the folk and the classical, are going to give to our modern type of Indian producers lots of ideas,

lots of inspiration Everything new, and yet Indian, can, in my belief, flow from this kind of a background.

PAUL To put it in very general terms, the folk drama takes something from classical drama—a kind of bastardization of some of the classical forms, making it more lively, more living for the community around, and it is lapped up because they become part of it Well, let's say that folk theatre is not for the educated, while the classical drama is for the elite, the intelligentsia.

What I think you've been trying to do is to integrate the two strands of the same thing—the sources of Indian theatre—and now you are trying to make it comprehensible both to the village people and to the city-bred people Do you agree ?

TANVIR. No, because this is compartmentalization The moment you compartmentalize and say that the classical drama was for the educated and folk theatre is for the uneducated, well, already you are trying to push these arts into ivory towers because you are depriving the nation as a whole of one half of its heritage. We have got both the traditions and both are indigenous I don't believe for a moment that Sanskrit drama, when it was being practised, was confined to the courts After all, you have got the Sanskrit language confined apparently to the Brahmans, and dramas were being written in that language, but not without the use of Prakrit. And by the time *Mrichchhakatika* came to be written, it was more predominantly in Prakrit, using plebeian characters such as the gamblers, the jewellers and all the other rogues of that play The manner in which these people mixed, the *ganikas*, the merchants and the other ordinary people, is a very different story It is a great misunderstanding, as some of the misguided scholars of Sanskrit have been telling us, that this was court theatre only I don't deny the fact that there was a tendency, a kind of development in Sanskrit drama which moved towards, shall we say, a more abstract form, confined to the courts But by and large, Sanskrit drama was a living

theatre, which had a relationship with the people, took from the people's forms. When the people practised their own forms they could not but be influenced by what was around them.

You quite rightly said bastardization. Now, we know that bastards are said to have so much more calibre, they are more intelligent, they are physically and mentally well-equipped in many cases, whether in the case of animals or human beings, and so also in the case of art—the cross-pollination that takes place always produces something more robust.

So this theatre of the people has to be brought to the educated because the educated lack the culture which the masses of the villages possess so richly though they're illiterate. You have to consider two things. The educated lacking culture because of an educational system which has reared the cultural content in the past and the villagers, who are innocent of educational systems and therefore by and large illiterate, being more than compensated by the rich oral tradition of our culture and who therefore are the more cultured, if it is attempted to close this gap between the village and the town, in every field of activity, as a matter of fact even in science and technology, but above all in the realm of art, then we will begin to think in terms of a true indigenous form which is good enough for modern India whether in the cities or in the villages. After all we are trying to bridge this gap in terms of development in industry, agriculture. In terms of culture also we have to come to grips with what are the roots and not always remain in the urban vacuum which has been created in the last few decades.

PAUL Habib, I am not a scholar in classical theatre but one cannot deny the fact that Kalidasa was a court poet and dramatist, and that most of the main characters in classical drama were drawn from the aristocratic classes. Not that the elite do not know that there are other sections of society living in the same city as them. So a playwright of those times could not ignore the plebeians. I don't know if such

roles were done actually by the plebeians or by elite actors. One can't really say that drama, as practised by Kalidasa and his kind, was not for the elite. You being a social and a political person in the twentieth century wouldn't like to produce those plays just because they're classics but because they're relevant to you and your society. In trying to take plebeian, or rather village or folk actors, for those roles you're trying to integrate them. But still, I think, the audience you cater to are not the kind which will make this theatre a part of their life. Because education by itself does negate a certain robustness and inculcates a sophistication which is just the antithesis of folk theatre.

TANVIR Now, that's another much-maligned word, sophistication, from which I take off. You see, this is a misunderstanding, that the educated are sophisticated and the villagers are not. There are two categories of sophistication. The rural sophistication is not understood by the urban people and vice versa. But I find the villager much more sophisticated than urban people in many many instances. In the arts they are much more sophisticated, there is no doubt, because our metropolitan development is comparatively of a shorter duration. In this short period the foreign domination has been mostly there. I mean the growth of cities is connected with British rule. And British rule is connected with an alien culture, the British way of thinking, the British bureaucracy, all of which we have inherited, so that cities are being run on those lines. The educational system, at the moment, is still maintaining those very forms which the British left behind.

This is not a continuous growth. This is a growth cut off from the tradition. When we talk about poverty, when we talk about development, we know that the poorest live in the villages, but we are seldom aware that the richest also live in the villages in the cultural sense. Culturally the richest, economically the poorest, that is the paradox.

I am not saying that whatever we have acquired by way of

urban culture is to be completely forgotten. But we have to keep it in mind that by and large the urban theatre is limited. It is Western-oriented. You have got to produce an Eastern orientation, a traditional orientation, and even, let us say, originality. Originality will not come from a vacuum. Cities at the present represent, more or less, a cultural vacuum.

So where do we go from here? We'll only go the way the West has gone. Where is it? What is Peter Brook doing? What's he looking for? What is Joan Littlewood looking for? When they do a play in Algiers or talk about Africa, when Godard goes to Palestine to make a film and Brook goes to Shiraz to do *Orghast in Persepolis* and talks about India, well, they're all looking for a ray of hope where the theatre is most living. And what is that theatre? That is the Indian folk theatre, not the city theatre. Peter Brook calls the conventional Western theatre, though we all know how flourishing it is, the Dead Theatre. All those conventions are dead conventions. They look back on medieval times, on the *commedia dell'arte*, and try and resurrect it, and how poorly, because of course the medieval times cannot be resurrected. They cannot hope to produce the kind of audience participation that might have been there in the medieval times of the *commedia* or the Elizabethan times of Shakespeare. But we have it right now. We have not to look far. And this is what we have to make capital of for going forward to an original, modern, contemporary theatre which has a continuous development, a continual growth.

PAUL: I'm sorry to harp on it but, as you say, our city culture is Western oriented. What was the kind of culture which you visualize from books, from study and your own intuition, before the British domination? Since there was a strong class system in some form or another, one can't deny that there was a kind of sophistication (I'm using the word in the dictionary sense, not that village folk are less intelligent) which education brings in, living in the city or a kind of

cultivation, not to be used in a derogatory sense but a factual, which one recognises and which the folk forms have not. When you are trying to present the folk forms to the city-bred, are you presenting them as they are presented to the rural audience? Do you get the same sort of response from city people to these forms? What do you actually gain from presenting Chhattisgarhi plays to people in Delhi or other towns?

TANVIR Well, to the advantage of your words I might say that one aim of presenting the rural theatre as it exists in a setting like that of Delhi is to unsophisticate the so-called sophisticated elite of Delhi, to make them acquire a feeling for the more robust, the more vital, the more lively. To be able to tickle them to hearty laughter, to move them to copious tears, all of which they're not used to. To make them get used to a highly sophisticated style of acting in which, in comedy, the sky is the ceiling—within the rigid framework of the aesthetics of acting. Madan Lal is one example, and you've seen him, you've seen how broad his comedy playing is, how very uninhibited. He makes faces, he jumps, he dances, he becomes a monkey, he swells his cheeks into a grimace, all of which the urban actor is innocent of. He is shy of doing all those things. And yet the folk actor never crosses the limit, it is never overdone. And he does it as highly as can be.

So that is what I mean. I have no use for the elite in the name of the kind of sophistication they possess because of being educated and therefore going to the theatre because it is the fashion, wearing the clothes that ought to be worn, using the perfumes that ought to be used, and talking in the foyer in the intermission so that they can meet their friends and show that they are abreast of the latest. It is the contagious, living quality of the folk theatre to which I intend to expose them, for the simple reason that they declass themselves to an extent and begin to enjoy themselves.

But of course, I do want city people to go to the villages too. And you know very well I'm not a revivalist. I do not want to do the folk play exactly as it is done. I have presented it in the same manner as it is done in order to show what exists by way of rich forms in the villages, but always used it to advantage. You'll remember the ritual I did as it is done in the temples. But in my workshop play done last year I used that ritual in my own fashion. I do not believe in the villager being left alone to himself and that he will produce for you the latest. But I also do not believe that the city artist left to himself in his own confinement can produce the most modern theatre relevant to our contemporary needs. I believe in the viability of the rich forms of the rural theatre in which they have a tendency to incorporate the most topical, the latest local happening, the thematic and formal flexibility by which we cannot claim this is how it was performed 200 or 2000 years ago. I am of the opinion that it is not at all necessary to go romping through the cultural traditions of the country, defacing and demolishing them and bringing in the new. The new from where? It's got to have a continuous growth. I believe that it is possible to usher in progress without demolishing this culture. This environment should be preserved, the rural environment most conducive to the fullest growth of the folk theatre form, because this community life which is so rich in its cultural expression can be transformed to a progressive community in which this expression remains. Right now we have no expression. What expression do the city people have of their own aspirations except going to the theatre or to the cinema or to an art gallery? Nothing else. Have you heard them singing in the streets of Delhi? No. But the villagers do it. They do it while they work, they do it when they die, they do it when they marry.

That's what I mean by cultural expression of community life. And this is a rich phenomenon. This is what is the envy of the Western artist.

PAUL As the situation now is, the rural areas are less developed than the cities, or you can say they are under-developed, and there is conviviality, robustness, vivacity, free singing and free dancing—a *joie de vivre*—in rural life. It's something you read in brochures. Most city dwellers do not go to the villages. You are one of the fortunate who've worked with villagers and with city people. With all these new development aids to the villages, isn't there a danger of whatever is existing by way of village theatre being adulterated by city development? Will the folk traditions die in their native environment or, if not, what will be their shape twenty to thirty years from now?

TANVIR Most unpredictable, depends upon so many factors including how we develop, what kind of social relations we have, what kind of changes we bring in, above all in the field of social and economic relationships. Without the best type of economic and social relationships we cannot have the best culture. Right now we cannot foresee very much. You are right about the incursions, the devastations of the mass media, the camp followers of industrialization. Already much damage has been wrought upon the community forms of cultural expression in the countryside. The difficulty is we will want the villages to be influenced by the cities and the cities to be influenced by the villages, but right now this free interflow is not there. Our urban orientation in cultural policy and all other matters is only having one type of effect—it is the city's influence on the village. When I say this, what does it really imply? Look at the situation. By and large our urban theatre remains imitative. Let us admit it. It is a Western-oriented, a pale copy-cat theatre. Apart from this, the radio and television and cinema have nothing to do with the indigenous, genuine cultural traditions of this country. All of these are being disseminated in the villages. Vast rural areas are already affected badly by these influences. The dramatic forms and contents of many folk theatres are



already following film tunes, going in for gaudy, flashy costumes, the types of hairdo that film stars have

Now, this is not what I mean by the influence of cities on villages. It is your educated elite of the cities who will be expected to possess a broader consciousness of the world. The illiterate villager at the moment is not expected to possess a modern concept of the universe. All that he has is culture.

PAUL Now, I see the city youth imitating the West because it is exposed to the West, because it goes abroad and people from the West come here, and the village people are exposed to the cities. They are a little lower down the ladder because they do not go abroad or people from the West do not go to the villages, there's no interaction. When all these people are exposed, don't you think the villagers will try to imitate the worst in the city people because you can't really regiment a people to imbibe the best in culture, they imbibe what suits them? Don't you think, and I revert to an old question, that these art forms will not remain insulated from some kind of bad influence?

TANVIR No, I don't want them to remain insulated. You're right. I think just now the bad influence of the film, above all, has changed many of the Indian theatre forms. Expose them to good city influences. How do you insure good city influences? By first exposing the city to the good rural influences.

It's very good that India is exposed to so many influences. All of us would like to learn from every conceivable country, whether it is France or Russia or Poland, Germany or England or America or China or Japan or Australia. There is also Assam from where you can derive inspiration. But if you produce an educated class which is totally deprived of awareness of its own culture and completely exposed to everything Western, you limit the choice. The educated will only lean towards the West, not knowing what belongs to them by way of their own traditions. So all I'm asking

for is a total exposure to every conceivable culture, which must be backed by a full awareness of your own traditions for whatever they're worth, and your freedom to go against those traditions or to follow them to advantage to a higher stage of development

We are importing technology from all possible countries, Western and Eastern and everywhere Now the danger certainly is that if we go the way of any of the European countries, Eastern or Western, and if we do not evolve our own methods of development, even in technology, we shall come to grief The point is we have not only to evolve indigenous methods, not only use indigenous material, but have also to think of the genius of the people, the economy of the country, the agrarian nature, the dimensions, the enormity of its population, the ratio of the villages to the cities and then evolve an economic path which ensures a development true to the genius of this country When I say that, I mean true to the needs of this country You'll have to adapt your industry and technology to those needs The moment you do that, you're already ensuring a very genuine culture also affecting the performing arts.

The TV satellite represents the big Western technology and consequently disseminates a message which is only a pale copy of messages of the West. Nothing but devastation can be expected But if this TV satellite is fed by what is true of the culture of this country, you will only receive a multiplication of the myriad forms in this country and many innovations So this is the first thing to be ensured—the right kind of change in economic and social relations, the right kind of educational pattern oriented towards jobs related to the villages if they are in the villages, craft-oriented, the arts finding a place in the educational system, museums located in the very areas which they represent so that these rich folk and tribal arts are first of all reinstated, placed on the pedestal which is their due. This is not being done.

The villagers enjoy their arts but they think the city people know better and therefore imitate them. I've seen Orissa women wearing their own traditional saris now because they know that the city girls like them. So if the city people adopt all the lovely things of the villages, the villagers will begin to have a respect for their own things. The moment I got a team to work with me, they realized that one city fellow, who's also from Chhattisgarh, liked the genuine folk tunes and was even teaching the city boys of Raipur how to do make-up in the village fashion. I only taught the villagers how not to use the tube-light but to take a ghee tin and make a hole in it and fix a bulb in it, paint the inside of the tin, put a hardboard on top, make a hole in it, and you get a 'flood'. That's how you'll get better lighting if you're no longer using rush torches as you used to in the old days, you don't have to go to the tubelights, which are insipid. On the other hand, your make-up is fine, the city boys should learn it. Your costumes as they are are fine. Your community songs which you are no longer presenting on the stage are lovely and you should go back to them.

They got so many props which had ceased to be used on the stage. They got the ornaments and the saris from their women. In one tantric scene, every ritual was performed not because they were sure they knew it but because I wanted it. I'm sure if this scene, for instance, is done extensively in Chhattisgarh, it will have a very quick and a very wide effect. They'll all change to what I'm trying to do.

That's why I think workshops of the folk arts all over the place, by people who have a sensitivity for the folk arts, must be conducted and taken around so that they are exposed to the cities and, more importantly, the cities are exposed to them. We should get in the metropolitan centres a kind of apex of this movement, not from the highest point downwards but from the grassroots upwards. On the regional basis we organize festivals, we organize training for them by artists,

not by government representatives This extensive activity would be to the youth a programme of informal education because a change in the educational system still cannot reach out to the masses of the people The emphasis must be on the villages And then I daresay there will be a change in the all-India-based festivals for the better So much cross-pollination will already have taken place by the end of the present five-year plan that, if everything goes well, we shall certainly have a much better picture

PAUL In politics we find there is a leadership in the villages while the city-dweller has to discover their artistic talents for the villagers Do you think in the arts the leadership will always come from the educated ?

TANVIR Not necessarily If we really undertake an extensive programme and go to the villages we shall be able to draw leadership from out of the local team itself I daresay the rural artists will throw up leadership very easily As a matter of fact, we already have quite a few folk artists who are in their own right leaders in their spheres I'll give the example of Sheikh Ghulam in Madhya Pradesh He's not exactly a city-bred, educated man He does not represent the city elite Very much a man of the people Likewise in Manipur and in the tribal areas there are leaders. So all we need to do is look around

PAUL With the spread of education one experiences a kind of modern sensibility And this sensibility in the latter part of the twentieth century has inculcated a kind of angst, depression or nihilism in the city-bred intellectual. Do you think this more or less genuine sensibility of the educated class has no meaning in today's India, or do you think it is against the very genius of Indian philosophy, that it is only imported from the West ? Some artistic work is done taking this class into consideration, for instance Badal Sircar's *Evam Indrajit* which people could say is imitative of Camus' philosophy and all that, but one could recognize the people in the play and they

are very genuine people. Would you say that either their problems are ignorable in terms of larger contexts or they don't have to be catered to by anything indigenous, that we have to go to the villages to discover what are the genuine problems?

TANVIR. No, no, I shall not go to the extreme of rejecting what we have achieved by way of the works of our best playwrights. Not at all. What we have achieved we have achieved. The best plays written by our playwrights reflect some very important aspects of our lives. This cannot be gainsaid. I was merely emphasizing the lopsided nature of our development in culture, the wrong nature of our cultural policy if we have one. If we don't have one, then the wrong kind of effect comes of a wrong type of development. Now, it has no sort of justifiable ratio to the problems of the entire country. What it has achieved in itself is good. But the aspects of life it does not reflect remain equally important and they represent a vast population of the country. I am of the opinion that development has to go on lines which are natural to this country, which flow from out of the needs of this country. The needs have been looked after a lot more with metropolitan India in mind rather than the countryside. You cannot deny that India is still by and large an agrarian country.

Now, in all theatre activity, the country is the most neglected of the two. We have to lay a little more emphasis on the countryside in every sphere of activity in order to correct this imbalance. There have been in the last twenty-five years a great deal of imbalance in development. To narrow this gulf is not against our best playwrights who reflect the city life. The aspects of reality that they reflect are our own—that cannot be denied. I'm not asking that something be cut off from a growing plant but that something be remedied before it is too late, because if this goes on we shall have nothing but regimentation in the end, nothing but nihilism. The playwrights are not to blame. We have to blame our development. I'm not saying that the problems of the countryside must

necessarily be reflected in the works written by our urban playwrights. Those who are reflecting them will do it without being asked. Those who reflect the other realities are doing it very well too. There are no hard and fast rules. But the village playwright, who's really an improviser and who therefore requires a greater creativeness, is neglected. So that aspect of development remains completely ignored.

PAUL: Do you think the creativity of an artist is a manageable commodity? Since all over the world theatre is subsidized by the government, since it is one of the art forms that needs subsidy, with increased aid to a kind of theatre that you might think the government should be in favour of, don't you think you or that theatre would be going towards some of the unpleasant paths of regimented aid?

TANVIR: No, but who wants government control in theatre? We ideally would like government subsidy and support and all possible freedom for the artist. So far whatever little support there has been, has been from the government in the performing arts. We cannot deny that. Theatre had really flourished on its own as a people's theatre during the days of the national movement. Soon after independence we had an extensive amateur theatre activity. But already we were getting some sort of support through the akademis and through various ministries or quality organizations. The thing that has been erroneous is that whatever little support there was was more or less completely devoted to institutions started in metropolitan centres. This has to change. We will require the government to incorporate into all such work as are related to the practical aspects of culture the help, cooperation and support of people active in the field.

PAUL: What are your immediate plans?

TANVIR: As far as I can manage I would like to use the resources I have in rectifying this imbalance. I would like, ideally, that so-called festivals take place on a regional basis all over the country, in their own ethos, not in metropolitan

centres I'd like workshops in the folk performing arts to be conducted extensively all over the country so that they come into their own Secondly, they should be taken to other regions so that every region begins to understand the problems of other regions Also, the cities must understand the forms of cultural expression of the villages This should be geared to the five-year plans, of which I think there is a distinct possibility because now it is in the air, people are becoming aware, even the makers of our cultural policies

PAUL But isn't what you're trying to do an oversimplification of the folk theatre ?

TANVIR When we say, and we are quite justified in saying it, that art represents the period and the clime in which it is inducted, we understand the village theatre form reflects their very life, to the extent it is as contemporary and topical as urban theatre What the city can do is to adapt it to its own advantage, to use it as a means to express whatever the city wants to reflect, its culture in its totality When city life is divorced from the true traditional way of living, it is reflecting less than a cultural totality The reflection of a traditional totality has to be dim, dilute When the imbalance is removed, the manner of response, and therefore of presentation too, will change It is a process Brecht, who went to the middle ages and China for his inspiration, produced his epic theatre and his theory of alienation, which we can certainly say were simplifications, so far as contemporary theatre is concerned.

*Enact*, March 1974

## **The Indian Experiment**

What must India do for social development through the theatre ? But first of all what is Indian theatre ? To anyone brought up in the European theatrical tradition, it is a difficult thing to explain. Take into consideration the fact that the vast Indian subcontinent, still mostly agrarian, actually represents a multilingual people, still by and large illiterate, and you will at once realize that Indian culture is like a crystal reflecting a myriad shades.

But its multilingual quality is not the only difficulty you face in regard to a satisfactory description of the Indian theatre. In India, theatre as a profession simply does not exist in the sense in which for instance it exists in almost every European town. In European countries theatre had achieved a certain clear-cut definition, and conventions flowing from this definition are almost uniformly followed everywhere. Experiments constantly take place in big



metropolitan centres but usually within the framework of these well-established conventions. So rigid sometimes are these conventions that when occasionally a serious attempt is made to achieve a real breakthrough and reach out for new horizons in the theatre, a sensation is caused throughout the world.

But this is diametrically opposed to what is happening in the theatre in India. You may not quite get this idea, looking at the plays written by contemporary Indian playwrights, though even some of those reflect a somewhat different phenomenon. Describing Indian theatre only through the plays recently written is more or less like attempting to project the Indian way of life through a few educated Indians visiting foreign countries.

But first of all, let us look at educated metropolitan India. Even here European parallel falls short of the image, for every big city in India can hardly boast of flourishing professional theatres. True, Calcutta has its many Bengali theatres with more or less a continuity of acting tradition. So has Bombay in the Marathi language, though perhaps to a lesser degree. Next comes the Gujarati theatre of Bombay and Ahmedabad. And perhaps the theatre in one or two of the South Indian languages is not lagging far behind. This description, however, still does not cover sizeable areas of the country alive with millions of people speaking numerous tongues, including some major ones, where theatre in this particular sense does not exist at all.

There are significant young playwrights writing interesting contemporary works in some half a dozen major Indian languages. Not all of them, however, can find a professional theatre for their expression. Most of these contemporary plays are performed by experimenting amateur drama groups that exist in big towns almost throughout the country. Delhi represents the hub of this amateur theatre activity and perhaps its most exciting experimental heights. The

professional theatres in Delhi have only now started coming up—only a couple of them including my own theatre group and at a very slow pace—but the city abounds in amateur drama groups, working in Hindi, Urdu and, to a lesser degree, the Punjabi language

The urban theatre of India only partially reflects the fundamental features of Indian culture. By and large, it remains imitative. It tries to ape the conventions of the western theatre. At its worst, it represents a pale copy of the most worn-out western theatre traditions. At its best it reflects new western forms recently evolved through a rigorous process of experimentation. Nonetheless there are producers and theatre groups in Bombay, Calcutta, Delhi and elsewhere that are engaged in original work of a very valuable nature. They are mostly involved in experiments with Indian folk theatre forms. Though in a country of vast cultural resources like India their number is deplorably low, they have already managed to break new ground and lay the foundations of a genuine Indian theatre. And this is also beginning to get reflected in the works of some young and upcoming playwrights. For instance, Girish Karnad's interesting Kannada play *Hayavadana* (Horseface) based upon an ancient Indian legend which also inspired Thomas Mann to write his novel *Transposed Heads* draws richly from a Mysore folk theatre form known as the Yakshagana. Similarly, the Bengali playwright-producer Utpal Dutt of Calcutta recently turned the Bengali folk theatre form Jatra to great political advantage by using its technique in his recent play about Lenin. P. L. Deshpande of Bombay has done the same with his Marathi play written and produced in a Marathi folk theatre style known as the Tamasha. My own Urdu play *Agra Bazar* and my recent production of a folk dramatic improvisation, the Nacha, reflect the same trend.

The trend itself is not a new phenomenon. It dates back to the Indian People's Theatre Association during the late

forties when producers like Balraj Sahni, Sombhu Mitra and Dina Pathak for the first time turned folk theatre forms to contemporary purposefulness. My own preoccupation with folk forms goes back to the same old days. Today, however, a concerted effort for greater significance is becoming more and more perceptible.

It is beginning to be realized now that the vehicle provided by urban theatre forms borrowed from the West is totally inadequate for effectively projecting the social aspirations, way of life, cultural patterns and fundamental problems of contemporary India. The true pattern of Indian culture in all its facets can best be witnessed in the countryside. It is in its villages that the dramatic tradition of India in all its pristine glory and vitality remains preserved even to this day. It is these rural drama groups that require real encouragement. They need to be given an environment conducive to their fullest growth. On the other hand, it is not until the city youth is fully exposed to the influence of folk traditions in theatre that a truly Indian theatre, modern and universal in appeal and indigenous in form, can really be evolved.

This is being realized more and more not only by some artists but some of the contemporary makers of a cultural policy for India as well. It is now understood that ignorance of your own traditions limits your openness to world influences to that extent and rather compels you to go in directions other than those of one's own choice. And if true freedom is a matter of the fullest range of choice given, then receptiveness to world culture must first of all be adequately backed by a full awareness of one's own culture. It is not as if foreign influences are in themselves bad, but they have to be accepted with a greater freedom of choice and greater deliberation. For this, knowledge of one's own traditions is a first prerequisite. This realization, however, is bedevilled by a terrible paradox. Right now, ramifications of this paradox engage our attention. The paradox is that our richest cultural tradition is couched in

areas of the utmost poverty—the villages. In other words, art and culture are richest precisely in those areas where the people are the poorest. And these comprise the overwhelming population of India.

The paradox assumes complexity when you consider India's urgent need for economic development and social transformation. Committed to the socialist path of development as it is, India is developing at a fast pace as it must. Presently it must galvanize its process of industrialization and accelerate economic progress at an even faster pace, in order that the great poverty of a great number of its people is quickly diminished, if not effaced, paving the way for socialist development.

The paradox is whether economic and industrial growth will not remove, along with the overwhelming poverty of the people, also the richest cultural traditions of the country. In the past, the community life of the people of the countryside and, with it, its cultural expression, has suffered a setback in parts of the vast subcontinent due to rude incursions from the mass media camp followers of industrialization. Everyone is aware that with change in the social fabric, the cultural fabric of the people's life will change too. But the question is whether the past must be crushed before the future is ushered in. This does not seem necessary. The old can perhaps be absorbed and transformed into the new. This need for continuity in change in the living traditions of Indian culture is of utmost concern to some of us at the present moment. For it is related also to a cultural identity which became somewhat diluted in the past by alien rule. The bad effects of 200 years of British rule are most evident in the urban, elitist oriented culture of India, whose expression often represents the worst forms of aping the West.

It is necessary, therefore, not only to preserve and develop the folk traditions of Indian art and culture but also to expose the city youth to their influence. Our educational system in

the past, borrowed of necessity again from the British, hardly ensured an identification of the young with their cultural roots. On the contrary, it tended to expand the cultural gulf that already exists between the city and the village, resulting in a partial loss of cultural identity among the city youth on the one hand and a certain alienation and stagnation of a primitive culture among the rural peoples on the other. This cleavage is now intended to be closed as far as possible by a new blueprint for an educational programme, which will gradually cover the entire country during the period of the Fifth Five-Year Plan starting from April 1974.

Re-orientation and expansion of education, however, may by itself not deliver the goods. It needs to be complemented by a stupendous effort in the direction of fully rehabilitating the dwindling folk arts and crafts of India. And this need now is beginning to be contemplated in a practical sense.

The rural scene has undergone a great deal of change in the past, to the detriment of culture, but thanks to its size and the vitality of its traditions, India is still India. It remains poor and agrarian still to a considerable degree, and its classical and folk traditions of art and culture still exist in some strength in large parts of the country. This offers inspiration for the theatre artists in India. It points out a way, the kind of way perhaps that Peter Brook may be said to be seeking for his so-called *Deadly Theatre*. Whether or not such a way of hope lies in this area, there is no doubt as to the fact that it needs careful examination. The task in itself would appear to be rewarding enough. That is why a serious and conscious effort is currently being made by India to rejuvenate traditions of art and culture where they are dwindling and reinforce and develop them where they still remain integrally related to the life of the community. It comes from a deep-rooted feeling that if the folk arts of India really represent the genuine fabric of the tapestry of Indian culture, then rehabilitating and strengthening them will perhaps help the

process of revolution of new and viable contemporary forms in theatre, distinctively Indian and yet suitable as vehicles of communication in a technological age

Quite soon India will have launched its TV satellite. Among other things, if rightly channelized this is expected to infinitely accelerate the pace of universal education. On the other hand, if good care is not taken and in good time, it may also swamp the country with cultural products which have little to do with the true genius of the country. It may kill community life in all its variegated interesting little patterns and flatten out art and culture. Before it is allowed to become an impediment to the dynamics of the traditional creative process of the country, action must be undertaken on a massive scale to preserve, reinstate and develop the living folk arts of the people. TV must not be allowed to overtake this process. On the contrary, conditions must be created to feed the massive appetite of this electronic medium with the most genuine of the creative arts, so that when the medium begins to disseminate its message, instead of regimentation in a cultural vacuum we obtain multiplication of the most dynamic art forms of the country.

It is no use turning to the dead book of the classical theatre in India and trying to revive the archaic theatre forms of yesterday without relating them to the living traditions of today. There are some people who tend to do this. These are revivalists, who have failed to perceive the complex but obvious interrelationship between the classical and the folk performing arts. They do not realize that the folk traditions in art are not only the progenitors of the ultimate classical structure but also the carriers of classical traditions when the latter came to a dead end in their own habitat. The fact that the people change and transform the classical elements of art to their own purpose and advantage and keep modifying them to suit their changing needs and conditions strengthens the case in their favour rather than otherwise,

insofar as any conscious effort to link cultural development with tradition is concerned.

The classical dances of India provide an excellent example. They have received constant nourishment from the folk artists not only in the sense of being exhaustively sculpted and painted by them on rocks and temples in past ages causing a great revival of classical dances in the present century but also in the sense of some being practised by them through the ages right up to the present day in one form or another giving rise to interesting variations which came in modern times to be recognized as independent classical dances in their own right. The classical structure in art is nothing but a terse crystallization of the folk structure in art. That is why some dances like Manipuri and Odissi, recently discovered, which have been practised by the people as folk dances for long centuries, have now been recognized as two more classical dances. On the other hand, you see many elements of classical dances like Bharatanatyam and Kathakali running into varying patterns in the numerous street dances of Kerala, Mysore and Tamil Nadu.

This interrelationship between the classical and the folk is no less evident in the sphere of drama. Those who refuse to see the mutual interflow of influences between the two categories of arts allow themselves to be misled by the fact that the classical Sanskrit drama of India has ceased to exist as a living force for a thousand years. They forget that the various musical theatre forms, practised through the ages by rural artists all over India and enjoyed so enormously today by millions of country people everywhere, all must carry a strong dose of the aesthetic values contained in the Sanskrit drama, which in a sense represents the quintessence of Indian culture. Their perception hardly ever goes beyond the letter of the sacred texts hallowed by time. They see much poetry, complex plot structure and fine characterization in Sanskrit

drama, but fail to see the production design and the demands they make on the actor's craft

It appears they simply go about it more or less like this . the language and thought of classical drama is so rich, sophisticated and ornate, whereas the speech and diction of folk drama improvised so often in unwritten dialects by illiterate actors is so coarse, primitive and prosaic, which is of course not at all true , so how can there be any artistic link between the classical and folk theatres ? The verbal sophistication and the imaginative use of the spoken word in the rich dialects of the people, so frequently to be witnessed in folk drama, are often overlooked . But even if, on occasion, this does not, the rich values of the other dramatic elements in folk theatre improvisations almost invariably do . Even when they recognize them on rare occasions, they tend to run them down as coarse too . The truth is however that these other aspects of acting and stagecraft in folk theatre also share a considerable common area with the Indian classical drama. In fact, they are but two sides of the same coin, two facets of the same culture . To compartmentalize them is like depriving the people of one half of their rightful cultural heritage dividing culture in terms of classes superficially and quite arbitrarily . The numerous forms of Indian folk theatre all share some common fundamental values . Nearly all of them abound in songs, dances, pantomime, improvised repartees, imaginative movement, slapstick comedy, stylized acting, even acrobatics . Almost all of them usually cover a large canvas in their stories and denote a change of location by movement and word of mouth rather than by a change of sets and decor. They often have a sort of stage manager, a comic character, who opens and establishes the play and provides the link scenes . And all these are the very elements upon which the classical Sanskrit drama is also based in a broad sense

The difference actually lies in the improvised dialogue of the folk theatre and its stock situations and plots, which remain



is what frequently makes a folk theatre performance an experience never to be forgotten

Make-up in the folk theatre in some cases, specially in the South, is extremely elaborate and close to classical patterns. Sometimes stylized masks are also used. But in many other theatre forms, only the most essential lines are accentuated in extremely simple techniques, including those of the circus clown. As for lighting, the simple torches used in the past are now often substituted by ordinary electric bulbs, even tube lights rather clumsily used. Austere economy used to great dramatic effect also applies to the actors, props, which again perhaps smacks of classical flavour

Lastly, the Indian folk theatre is total theatre in much the same sense as the classical Indian theatre was. It is at the same time so often a ritualistic theatre, which at once brings it close to both the classical and the modern theatre in the best sense of these words. It is these fundamental links plus, above all, the fact that its numerous beautiful forms all represent a people's living theatre that compel us to view it as an invaluable source material on which to strive to build the edifice of contemporary Indian drama

*Enact*, March April 1977. Reprinted by courtesy of *International Theatre Information*, where it was originally published in the Summer 1976 issue

## **The Crisis of Identity and The Question of Authenticity in Theatre**

A sense of identity in a people is fundamentally a cultural matter rather than any other. Throughout history India as nation has shown great resilience in so far as assimilation of different strains of culture is concerned. This may have been so even during the long phase of British occupation in India. It is too early however to say whether a new culture qualitatively satisfying and yet identifiable as India's is in fact going to evolve as a result. The British intervention in our history with all its boons of world language and some new forms of development has been nevertheless quite disastrous in so far as culture is concerned. This is more particularly so in the case of theatre.

The Sanskrit theatre ceased to grow about a thousand years ago. On the other hand the folk theatres in India

despite great devastation during the British period did continue to grow and change. Fundamentally, the Indian folk theatre subscribes to the same concept as the Indian classical theatre. Neither of them follows the three Aristotelean unities of Time, Space and Action. Both of them strive to keep the one unity of *rasa*. This fundamental difference in the approach of Indian theatre as compared to the Western theatre approach was forgotten even by the champions of the *Natya Shastra*. Consequently, when imitativeness entered into the Indian life—in institutions and in art culture—theatre became the worst victim. It became imitative.

Efforts during the rise of nationalism to revive the theatre and later on to make it more true to our own reality, particularly in Calcutta, during the last decades of the nineteenth century, soon came to nothing because our colleges and universities had started practising the western style drama on a large scale.

Despite our understanding of the contemporary themes in the theatres of Ibsen, Chekhov and Bernard Shaw, exemplified through the revolutionary theatre techniques of Stanislavsky, we remained by and large blind to our own modes of expression as practised by classical masters and continued by folk players. Even our themes therefore themselves tended to become more and more urban and later on more elitist.

Immediately after gaining independence, perhaps the worst crisis that we as a nation began to face was the crisis of identity. We began to look like a nation that was aping the West not only in our technology, but also in our bureaucratic institutions, our educational system, our aspirations, our way of life, our mode of thinking, and our manner of pursuing theatre. This was a natural consequence of a long process of alienation that has been primarily set into motion through our obsolete and borrowed system of education.

Recently, there has been a pronounced reaction against

this trend. The germs of this new awareness actually go back to the days of the Indian People's Theatre Association which had made the first big organized effort to align the theatre with the peasantry and the new Indian working class whose cultural base once again was rural and agrarian. We still suffer from the hangover of a nightmarish cultural past, but side by side fortunately other types of theatre representing a culture more authentic are beginning to assert themselves though slowly and painfully.

We are beginning to realize that we cannot possibly portray our own unique reality except through modes and methods indigenous to our own culture. The fact that our own culture and our sense of it have messed up, resulting in many confused forms of theatre which on the face of it seem to stand for authentic expression and yet remain fake to the core. The Indian bourgeoisie, at first not aware of the difference, is now beginning to catch up with reality and making its own rich contribution in messing up all streams of theatre.

Thus, side by side with the folk theatre we have the pseudo-folk theatre. The ruling class effort is to so formalize theatre that even the most radical ideas actually become tame in their grip. They are adopting modes of theatre patronage which dilutes the fire in the dynamic artiste and pushes him towards sheer technical innovations of a seemingly revolutionary kind. They are not concerned with any question of authenticity but only with packaged cultural goods available in the consumer market. Particularity of a regional culture which can amount to authenticity is often given the bad name of chauvinism. On the other hand regimentation and standardization, that accurately depict the mental make-up of a consumer society believing in mass production for the sake of maximum profit, pass for universalism and such-like abstract elusive values. Their patronage is adopting new and clever methods of promoting this type of pseudo culture

This presents the biggest challenge of our times for the genuine artiste. His dilemma in a nutshell is that he is to function within the code prescribed by the establishment, take their support, and yet prepare to dig their grave. The surest way of doing this is to be true and culturally authentic to one's reality and roots.

Presented as a paper at a Seminar on Perspectives of Contemporary Indian Theatre, sponsored by the Sangeet Natak Akademi and the India International Centre, and held at New Delhi, 17-19 December 1984.

# Drama Through Synthesizing Rural and Urban Cultures

A FORD FOUNDATION PROJECT

## I Productions

I started working on the project from the end of September 1984. The end-products of the project have been .

1 *Nand Raja Mast Hain*—Manoj Mitra's Bengali play *Raj Darshan* in Hindi musical adaptation directed by Kartik Awasthi with a cast comprising the Naya Theatre folk troupe, Ravi Shankar University student actors and actresses, and Raipur city amateur artists

2. *Jadugar Kalakar*—a celebratory theatre spectacle based upon the story of the Pied Piper, directed by Elizabeth Lynch and Habib Tanvir, with a cast of 60 comprising the Naya Theatre folk troupe, Ravi Shankar University (Raipur) student artists, Raipur city amateur artists and a large number

of Rajkumar College (Raipur) children—age group 6-9 and 12-16

3 *Hirma Ki Amar Kahani*—a play about tribal life written and directed by Habib Tanvir, with a cast of 74, including 46 Adivasis, Naya Theatre folk troupe members, R S University student actors and Raipur city amateur artists

4 Currently we are working on the dramatization of three poems of Robert Frost with the help of Naya Theatre folk artists, Ravi Shankar University student actors and Raipur city amateur artists

## II Workshops

The first three of the above productions have been results of workshops conducted at different places. Apart from the first workshop resulting in *Nand Raja* held at Raipur during October 1984 in which no tribals participated, all other workshops were tribal-oriented. During *Jadugar Kalakar*—January 1985—we had a five-day survey of Bastar, particularly the villages around Dantewada and Narainpur, which included some trekking. Between May and October 1985 we had seven workshops: four days at village Mokhpal near Dantewada followed by three days at village Jheeramtara, in block Koelibeda near Antagarh in May, two days at Narainpur in June, four days at Kanker in July, five weeks at Raipur in May-June, three months at Bilaspur, July to October, and lastly five weeks at Raipur and Delhi during May-June 1986. At Mokhpal and Jheeramtara, we interacted with a large number of the tribal inhabitants of these villages in dramatic representations, dances and improvisations, at Narainpur we watched dances by tribals gathered from three surrounding villages including Remawand, whose party in addition to the Mokhpal party and a party from Kanker we selected for the final cast of *Hirma*. At Kanker, we interacted with rural dance and drama parties gathered from four nearby villages in mime, dance and drama

improvisations At Raipur we worked on the restructuring of the dramatic format of *Hirma*, on improvisations for actors, and on songs and their melodies, in the light of our experience in Bastar workshops, in which most of these actors had participated At Bilaspur, we actually rehearsed the play for nearly three months In the last phase, we got three tribal parties comprising 46 boys and girls from Mokhpal, Remawand and a village near Kanker intermixed with our urban and folk artists for a little over one month during September-October 1985. At the end of this, we had our première of *Hirma* in the open at the Railway Stadium, Bilaspur, on 13 October 1985 Of this play we have had 38 performances between October 1985 and April 1986, in several places in Madhya Pradesh and Rajasthan, mostly open-air, and in Delhi, Calcutta and Lucknow Our last workshop was conducted at Raipur and Delhi for five weeks during May and June 1986, we started working on poems by Frost in this workshop from June 1986

### III Conclusions

1. I have been able to achieve a harmonious synthesis between rural and urban actors as never before. Formerly, efforts made in this direction, e.g. in my productions of *Raja Chamba aur char bhai*, *Sutradhar*, etc. resulted in the folk actors dominating over the urban actors This created imbalance in style and projected the feebleness of urban actors the more This time in *Hirma*, the urban artists were those who being from Raipur and around knew and understood the Chhattisgarhi dialect of the folk actors, though they were not used to speaking it They spoke it for the first time in drama

Secondly, they lived, travelled and continuously worked with them, which had mutual beneficial effects on both the groups of actors. The urban actors dropped some of their middle class fads and opened up gradually

Living and working with tribal artists further exercised a



good influence on both the urban and the folk actors. The tribals laughed so easily and on the merest excuse. They sang all the time travelling, working or just waiting for their food to cook. And they laughed almost all the time, turning everything into a play or joke, and always from their guts. They were honest, simple, truthful, extremely well-disciplined, hard-working and entirely dependable. The others living and working with them could not escape the contagion of good humour and dignity the tribals possess as their hallmark. The result was harmonious team work.

In open-air performances of *Hirma*, we had to work for long hours on the sets and lights. The urban actors' industry was well matched with the labour the Adivasis were putting in on these occasions. This had a singular effect on some of our lazy folk actors as well.

The urban actors learnt both abandon and poise from the folk and tribal artists. The harmony that came finally in the stage performance was a result of all this.

2 All acting is connected with some kind of hierarchy. It is related to a social status that characters establish for themselves in a play. It is imbued with political meanings, social and individual conflicts and contradictions. The folk actor knows this instinctively. Even here, the urban actor has to learn a lot from the folk actor. This was achieved during improvisation conducted in the workshops.

Herein perhaps also lies the area of our failure. I had hoped that among other things, I might also be able to achieve the objective of getting a tribal or two to act out a character in the play, no matter how small, but here I failed.

It would be easy to attribute this failure to a lack of acting talent among tribals. But I have a hunch that the Bastar tribals of some areas cannot act out drama in our sense of the word, because it does not exist in their life. Drama in the sense of hierarchy of characters producing through friction

between themselves the unfolding of events and thereby a story does not exist in tribal life. There is the life of a compact community, in which all losses and gains are equally shared. Nobody is anyone's fool or villain or hero. There is no one to laugh at, sneer, or idolize. If they laugh at someone, it is an innocent friendly laughter, and even the one laughed at often joins them in the fun, laughing at himself. Social misdemeanours are of course recognized but whenever allowed they are resolved in the village panchayat and the miscreant is often let off with light punishment, after which he is again deemed innocent and allowed to mingle with the community. The only threat to the community comes from the outsider. And to this threat the whole community has learnt to adjust and to survive. They are suspicious of the outsider. They become silent in his presence and ignore him. Lately, being aware that the outsider exploits them, they too have learnt to exploit him in turn in their own small way. Occasionally there may be confrontation between outside forces and the community but even here the whole community gets involved, without producing any dramatic nuances in the conflict. The barter or the weekly market is one of the common meeting grounds where they face the outside world. But this world is hardly ever allowed at least in some parts of Bastar to become an integral part of the community, which back in the village carries on in its own momentum.

Perhaps they have another kind of drama, which is based on community rituals such as hunting, harvesting, worship, death, marriage, childbirth, etc. And what mimes they could enact for us only confirmed our suspicion that their own life is innocent of social conflicts.

However, this pattern of community living has its own kind of special dignity. And the positive gain was that other actors could not help being deeply impressed and influenced by this.

3. A varying number of urban actors taken during the

workshops were also groomed to act in some old productions of Naya Theatre such as *Charan Das Chor*, *Lala Shohrat Rai*, *Mitti Ki Gadi* etc. Though not all of them got a chance to appear in a stage performance, some did get this opportunity, not out of any need of the production so much as the need to complete their training. In some instances, they brought freshness and vitality to the show and improved it.

The professional theatre conditions in which these urban actors found themselves working while travelling over vast areas of the country themselves provided training ground enough for actors who had never the experience before. This applies equally to the Bastar tribals, for all of whom drama and living together with others was a totally new experience, as was travel for some tribal parties. Their adaptation was not only remarkable but rewarding.

4 A number of urban actors associated with us in the project have now become part of a kind of semi-permanent periphery to our hard core of folk actors. Of course quite a few of them have their college or jobs to go back to, but the fact that some of them have expressed a wish to be taken into the theatre as permanent employees in case we can financially afford it, is itself a measure of the success of the project, for never in our past long history did we either plan or actually had urban educated actors in our permanent professional team.

5 Of urban theatre sophistications such as in terms of grouping, lighting, rhythm, tempo and contrast in speech and movement, silences and pauses etc., where the actors in general lacked these, instruction was imparted through example, illustration and improvisation. The actors in general graduated very well in this, as was evident from tests taken for instance in regard to the focal point in some classical paintings shown. The correct answer to this amounted to a correct assessment of the thematic projection in a picture, which is saying a lot.

6. Skills were learnt, imparted and exchanged, such as musical skills in *Nand Raja* and *Hirma*, mask-making and

costume-making out of throw-away things such as rags, broken baskets, brooms, old newspapers etc in *Jadugar Kalakar*. In the latter, Geraldine Bone taught children as well as adult actors this skill, while Ali Pretty taught them acrobatic skills, with the result that three children acting as cats went up a rope about 45 feet high and disappeared in the college balcony from where the ropes were dropped, while two of our city actors came down the same rope as rats, head first. Elizabeth Lynch imparted to them training in celebratory community theatre full of spectacular quality and dramatic fireworks at the end, while David Haley, actually in charge of documentation, taught them how to make a comic electronic machine, and all this through practical involvement. These four English artists had a vast field experience in their respective areas of work with Indians of Kenyan origin and Bangladeshis residing in England. Many who learnt under their supervision are carrying on this work in their respective theatre organizations around Raipur.

7 In India, to my mind, culture can be divided broadly into two streams. There is a culture of the exploited classes and there is a culture of the exploiting classes. The former, for reasons of under-development and survival needs, happens to be the richer of the two. It carries with it elements of the Indian traditional culture in living forms thereby ensuring both its continuity and transformation, given favourable circumstances. It is largely shared by the illiterate rural masses. On the other hand, our urban culture still struggling to come out of its slavish imitative phase lacks continuity, depth and maturity. In this perspective, cross-plantations between the two can prove wholesome for both, but not through one imitating the other but through free inter-mixing of the two by authentic groups of people. And this has been the chief objective of my project.

Presented as a report, along with a performance of *Hirma Ki Amar Kahani* at a Seminar and Workshop sponsored by the Ford Foundation at New Delhi, 25-28 August 1986.

## **Some Comments on Charandas And Theatre In The Rural Areas**

At present I am concerned about questions related to the development of the country. I somehow feel that we missed the bus right from the beginning. Our market economy, or whatever nomenclature we may choose to give it, is imitative. There has not been any real, sincere, genuinely creative effort to think about the peculiar conditions of this country. Many of our pet theories have become obsolete. There is a vast part of our country to which they do not apply. We still have, despite growth and development, so much discrepancy, such an awful chasm between the poor and the rich that the difference is staggering and is not to be really compared with developed countries where there are differences in wealth—in terms of distribution of it. Somebody asked, ‘Was the play addressing us?’ Now the play presents the point of view of a man who represents the Adivasis, the tribals and also

represents the Head, the feudal head at that time—the Raja—and the question of his property. The play talks about exploitation, but it also says that our pattern of development, our progressive approach in the tribal belts, was more disastrous in some respects than feudal patronage was, even though we denounce it. We cannot, however, blindly denounce everything in our feudal past because there were some things which the feudal landlords did which helped the tribals. The Rajas exploited, they gathered the taxes, they had money, but they were also humane, they were hospitable, they were generous, they did not interfere in the administrative set-up of the tribals. They allowed the Manjhi to continue, the village panchayat to continue, and village crimes, thefts, murders were all sorted out by the village panchayat. The Raja had nothing to do with them. Grigson, who was the Divisional Commissioner of Jagdalpur, Bastar, in the early twentieth century, shrewdly suspecting that the Indian Penal Code was perhaps not applicable to the cases in the tribal areas, invited Verrier Elwin to help him frame new laws. Grigson was, of course, right. Elwin went into the matter, as you know, and wrote that famous book, *Maria Murder and Suicide*, in which he described their taboos and what they thought was justice. Thus, often, when a man came and said, 'I have killed a man', they pardoned him because they recognized that he felt no guilt about it, that the taboos had sanctioned that murder. The village panchayat even allowed the murder of the elder brother when he seduced the younger brother's wife. They sanctioned that kind of murder. For many other crimes they handed out simple punishments—humiliation before the village, thrashings with a *chappal*, fines. They had a very humane way of looking at things. Now, we have consensus politics. This, however, does not enable people to feel that they have been affected by decisions which they have made. We have failed in this. We have been sending out messages, advice and all the 'do-gooder' activities to them. We have been going

on with Panchayat Welfare Departments, Social Welfare Departments which do not know the problems of these poor people and are also not equipped with the answers to their problems .

Regionalism in culture authenticates that culture, not in a puritan sense but in the good sense of helping that culture and allowing it autonomy, freedom or what you will. It then promotes interaction between different cultures and allows it to become richer. We are denying that, we are even unwittingly affecting regimentation and standardization and thereby ironing out all angularities, all diversity, all the composite qualities of our culture. The result is that our culture is becoming imitative. Even the imitation of the rural by the urban is as harmful as any imitation. There was a time when we were concerned with many elitist theatres which were all the time imitating the West. At present urban boys, with no sensibility for the folk culture around them, try to do good to that culture either by adopting it or by imitating it. The result is a very strange kind of pseudo, imitative, folksy culture. There must, instead, be a two-way traffic so that we begin to really appreciate what they have and what we have. I really had to learn this myself. I had been abroad, had been trained in England and had roamed around Europe, watched those wonderful theatres. I went with my thinking cap, my pen and paper and started working, guiding lights, movement. I told the village actor that he should move along a diagonal line, turn at a particular point so that the light would touch him in a particular way. All that failed. I realized that the man was getting cramped, he was being, sort of, driven around and he was not being allowed to use his mother tongue. He spoke Hindi in a manner which jarred my ears, my aesthetics were hurt by the way he ruined the language. But when I talked to him in his own language I found him—I saw him in his own rustic setting—I found that he flowered fully and emerged in all his power and vitality.

So I realized that there was something wrong. This process took me from 1958 till 1970. Only in 1970 I realized that I must give the tribals back their mother tongue in the theatre. During the years 1970—1973, I miserably failed as an experimentalist. Suddenly, in 1973 there was a breakthrough when I was at a workshop talking about symposiums and how to make them interesting. That is one of the most interesting seminars I attended. It was a workshop for a whole month. We had about one hundred folk and tribal artists and there were Surajit Sinha and Komal Kothari, some professors and anthropologists from the university, some observers and we had a whale of a time. I enjoyed it and everybody still talks about it with nostalgia.

The end-product was a play, *Gaon ka naam sasural, mor ka naam damad*. This play attracted people day after day after day and it ran to packed houses for several weeks. Charan Das Chor came soon after that. It took me time to realize that rules can be created and changed. Take movement, for example—they kept forgetting it and I went on fretting, pulling my hair and getting hot under the collar and saying 'What the hell, you don't know right from left?' 'Don't you know the true purposes of your hand?' 'One hand is used for one purpose and the other certainly for another purpose.' That was my tone in Chhattisgarh when I was very, very angry. And even then Thakur Ram, instead of moving right, would some day move left and forget all about where I had asked him to go. Those were my days of error. Now whenever I go back I realize that the man is such a wonderful actor, a stalwart. The reason simply is that there was no village theatre, just a *chabutra*. A small platform or a big platform, *chaupal* or any odd place could be used for a stage. I would at first go and lose my temper at the very fact that the people were sitting on the platform where the performance was to take place, that means, on the stage. And I would say, 'Why the hell, why the hell should they come and sit on the



stage ?' The actors were not in the least bothered They sat right in their laps and breathed down their necks, but they went on performing beautifully Indeed, they responded to the people all round them . .

And this Thakur Ram—all the actors were not like him—had been on the rustic stage for as long as 35 years before he came to me That means that he had been acting since his childhood. A man so given to his own type of theatre for as long as that, and considered already a celebrity in his village—it was very difficult to unteach him what he had learnt through experience and to teach him 'right' and 'left' on the stage He was responding to whatever went on around him—thus, if a cow walked through the audience, he would improvise a remark Naturally, 'right' and 'left' didn't matter He was looking at what was happening around him So he would say something about the holy cow

I was only generalizing from my experience, but when I go to Anil Sadgopal's or Sudarshan Kapoor's class in Hoshangabad, I realize that their experiments with educating the rural poor are analogous to my work in the theatre with the tribals Thus, when I visit Sudarshan's classroom I find the children playing and making a big racket and throwing aeroplanes, paper aeroplanes, making balloons, trying to learn volume and God knows what else. I am not a scientist. They are taught all this They have a very, very good time—these children. Sudarshan Kapoor told me that they were never punctual, they didn't come on time, they were always late, but they never wanted to go away from the school. Their parents were very uncomfortable because they did not leave the school till late in the evening They just played around Now, I thought that is one way of teaching and it was very successful So was Anil Sadgopal's experiment in well-digging in Shadol, Benares.

All these are just personal experiences. When you work with the tribals you must work with them and without the presumption that you know better Which takes some time—

it took a long time in my case. Sometimes my actors and I were at loggerheads. We used curse words about one another. I think that's a good relationship. I don't know whether you noticed, I spanked the boy on the bottom when he was making mistakes. It's really a very personal, very intimate kind of relationship and they give it back to me in the same coin. I think it comes from working with them, merging with them.

Excerpted from a talk at a Seminar on Images of Rural India in the Twentieth century, held under the auspices of the Max Mueller Bhavan, Hyderabad in February 1991, and published in Alok Bhalla and P. J. Bumke (eds.), *Images of Rural India In The Twentieth Century* New Delhi 1992.

**HABIB TANVIR**  
**A Biographical Resume**

## Habib Tanvir    A Biographical Resume

Born 1 September 1923 at Raipur, Madhya Pradesh, Habib Tanvir graduated from Morris College, Nagpur. He went to Bombay in 1945, and stayed on till 1954, working for a period as supervisor at an ammunitions factory, taking on assignments for films and the radio, writing film reviews, and poems in Urdu, often participating in mushairas, as a poet of some standing, joined the Indian People's Theatre Association, and was active as both writer and actor.

His IPTA works include *Shantidoot Kamgar* (1948), which he wrote and directed, with Dina Pathak in the cast. The half-hour street play was staged before a mill gate in Parel, one of Bombay's industrial suburbs. *Shatranj Ke Mohare* (1951), which he adapted from Premchand's *Shatranj Ke Khiladi*, and directed, with Dina Pathak and himself in the cast, was performed first at Hyderabad, and then at Bombay. *Shatranj* remained a favourite with Tanvir, who revived it

in 1954 and 1960 for Jamia Millia and Naya Theatre respectively, acting in both the productions

In 1952, he directed *Jaalidar Pardey*, his adaptation of *The Feminine Touch*, a Soviet play, for the J J School of Art, Bombay, reviving the production in 1959 for the Naya Theatre, Delhi

In 1954, he moved to Delhi, where he did his first production of the celebrated *Agra Bazar*, the same year, with teachers and students of Jamia Millia, and Okhla villagers, as part of the celebration of the birth anniversary of Nazim Akbarabadi, a popular eighteenth century Urdu poet of Agra. Begum Qudsia Zaidi was excited by *Agra Bazar*, and took the initiative that led to the formation of the Hindustani Theatre

In 1954, Habib Tanvir went to the UK, where he received training at the RADA, the Bristol Old Vic, the British Drama League, and was exposed to a wide range of theatre in one of the most exciting phases of London theatre, visiting other European centres too

In 1958, he returned to Delhi, and joined the Hindustani Theatre, for which he directed *Mitti ka Gaadi*, his Hindi adaptation of Shudraka's *Mrichchhakatikam*. With the participation of six Chhattisgarhi folk actors, *Mitti ka Gaadi* was the beginning of Tanvir's lifelong interaction with the Chhattisgarhi artistes and their tradition

In 1959, he left the Hindustani Theatre, along with Monika Mishra (whom he married the same year) to form the Naya Theatre, which was however registered only in 1964, and became a professional company in 1972. In its first year, Naya Theatre produced *Saat Paisey*, Tanvir's dramatization of a Czech short story, directed by Monika, Tanvir's produc-

tions of *Jaalidar Pardey* and *Tambaku Ke Nuksanat*. In 1960 Tanvir directed *Phaansi*, which he had adapted from an English one-act play, both Habib and Monika were in the cast, Monika as a walk-on whore. The same year Tanvir adapted Molière's *The Bourgeois Gentleman* as *Mirza Shoharat Beg*, which he directed for Jamia Millia

In 1960, Tanvir revived *Mirza Shoharat Beg* for the Naya Theatre, and directed Aga Hasra Kashmiri's *Rustam Sohrab* in Urdu, with himself in the cast

Tanvir had discovered Brecht in the UK. In 1962, he directed *The Good Person of Setzuan* in English, for the drama teachers' camp sponsored by the Ministry of Education. Sushma Seth acted as Shen Te-Shui Ta, Monika Tanvir was the priest, Tanvir himself the carpetseller. This was the beginning of a whole series of productions in English, of classics, both Indian and European. In 1964, he directed *The Signet Ring of Rakshasa*, P Lal's translation of Vishakhadatta's fifth century *Mudrarakshasa*, with interpolations from H. H. Wilson for the Nandi, for the boys of St Stephen's in Delhi. This was the first time Tanvir used the Kuchipudi curtains—'nobody was using them at the time,' Tanvir chuckles when he recounts his production.

Nagin, his daughter, was born in 1964.

In 1965, he directed Lorca's *The Shoemaker's Prodigious Wife*, in English, at a drama teachers' camp at Mysore, where playwright G. Shankara Pillai was one of his assistants, and Anita Seal did the lead. The same year he directed Wilde's *The Importance of Being Ernest*, at St Stephen's, Delhi.

A revival of *The Signet Ring* in English in 1968, with Aftab Seth, Kabir Seth, Rajeev Sethi in the cast 're-activated' Naya Theatre after a long time. The years in between had

been taken up by two more classics, produced in English—Shakespeare's *The Taming of the Shrew*, in 1964, for the Unity Theatre, Delhi, with Marcus March, Celia Gore Booth, Sushma Seth, Roshan Seth, and Kabir Seth, and Goldoni's *Servant of Two Masters* in 1966, for the New Delhi Polytechnic for Women and St Stephen's

In 1969, Tanvir produced *Mere Baad*, his play on Ghalib, in which he played Ghalib, 'reciting' the lyrics, 'to underscore the thought of Ghalib's poetry'. Students and teachers of Jamia Millia formed an overwhelming majority in his cast. The same year he was awarded the Central Sangeet Natak Akademi's prestigious award for direction, and he revived, in 1970, *Agra Bazar* for the festival on the occasion of the presentation of the Akademi awards for 1969, in a Naya Theatre production, with the company now almost entirely made up of the brilliant Chhattisgarhis. The Naya Theatre has revived *Agra Bazar* twice since then, once in 1977, with urban actors, mainly drawn from the ranks of National School of Drama products, and featuring Savita Bajaj, Ranjit Kapoor, Devendra Raj Ankur, Raghuveer Yadav, among others, and again in 1989, for the Akademi's Nehru Shatabdi Smarak Samaroh in New Delhi, Tanvir acting in all the three productions.

In 1971, Tanvir appeared in a new role, as activist-propagandist for Congress (I) in their election campaign, performing his 40-minute poster play, *Indra Lokasabha*, on a truck, putting up no less than forty shows in a month's hectic schedule. The same year, he wrote and directed yet another poster play, this time on the Bangladesh Liberation War, and the Pakistani atrocities that sparked it off and continued throughout—*Kushtia Ka Chaprasi*. As a nominated member of the Rajya Sabha from 1972 to 1978, Tanvir continued in his 'political activist' role.

Meanwhile he had begun exploring the creativity and skills and natural genius of the Chhattisgarhi singers, dancers and actors. As he said in 1983, 'My feeling for the *lokanatya-shaili* dates from 1970, but didn't find a *naya rasta* till 1973.' In 1972, he experimented with the Pandavani style in his production of *Arjun ka Sarathi*, in which the *Geeta* episode was sung and enacted by Punaram, the celebrated Pandavani actor. *Gaon ka naam sasural, more ka naam damaad*, a collage from three Chhattisgarhi stock comedies, written, directed and acted by Tanvir in 1973, grew out of a Nacha workshop held at Raipur, 6-18 March 1973, with forty folk artistes from Raipur, Durg, and Rajnandgaon as participants, and twenty urban young men and women, and thirty odd rural youth as observers. Numerous original Nacha comedies were watched and studied before the three—*Chheri Chhera*, *Budhwa Bivah*, and *Dewar Dewarani*—were selected to be reworked into *Gaon ka naam*.

*Raja Chamba aur Chaar Bhai*, in 1974, was yet another kind of experiment, in which an 'allegorical tragedy in Urdu' was recast by Tanvir, 'using its metre in my narrative verses and its tunes'. With eleven folk actors and four folk actresses from Chhattisgarh and more than twenty Delhi artistes including Sushma Seth, Aftab Seth and Irfan Askari participating in a version, for which Tanvir 'drew inspiration from the style of Alha Udal'.

*Charandas Chor*, Tanvir's masterpiece, in its first 'embryonic form', as a short play, *Chor Chor*, was first tried out at a SITE-oriented workshop at Bhilai, before an audience of 18,000, including a large congregation of Satnamis. In January 1975, even as the first version was still being fleshed out, Shyam Benegal spotted it as 'suitable material for a film', and filmed it in Chhattisgarh.



Even as *Charandas Chor* grew to be a hit and an evergreen favourite over the years, Tanvir went on experimenting and exploring forms and conventions and techniques in different settings and modes in different parts of the country, with works like *Thakur Prithpal Singh*, adapted from *Thakur ro roosano*, in the Rajasthani Khyal form, based on a folk tale recorded by Vijay Dan Detha, which Tanvir directed at a Khyal workshop for Rupayan, at Burundi, in 1974, with the celebrated Ugam Raj Khilari as Rani Saheb, and Bhanwar Lal and Pukhraj also in the cast, and Komal Kothari in charge of costumes, his version of *Uttara-Rama-Charitam*, in colloquial Hindi, in 1975, that had, in his own words, 'a bearded Ramachandra, who was a bit of a cad', *Shahi Lakadaha* and *Jani Chor*, which he directed at a workshop devoted to Haryana swang in 1976, his version of the Pahlada Nataka, produced at the Orissa Folk Performing Arts Workshop held at Gopalpur-on-Sea, in April 1976. In 1977 he produced *Sutradhar 1977*, an updated version of his own play *Sutradhar 1961*, a 'satire on elitist culture': 'though sixteen years have elapsed since the play was written, I did not feel the need to alter anything in the text in any significant sense for the present production'. The cast featured Ranjit Kapoor, Nadira Babbar, and Aftab Seth.

In its 1977 revival, *Mitti ki Gaadi* was described by Tanvir as 'a musical improvisation in folk style adapted from Shudraka's Sanskrit Classic', 'the difference this time is that the cast is composed entirely of folk artistes, and they are all from Chhattisgarh. Secondly, the present production for obvious reasons uses Chhattisgarhi dialect and it is an improvisation.'

1978 was a busy year for Naya Theatre, with three important productions—*Bahadur Kalarin*, which Tanvir wrote and directed, with a towering performance by Fida Bai,

*Sajapur ki Shantibai*, a Chhattisgarhi version of Brecht's *The Good Person of Setzuan*, and Tanvir's own version of the Bhasa trilogy, with Punaiam Nishad, the great Pandavani master, performing as the Chorus

There were no major productions in the first half of the eighties, which was the decade that took Naya Theatre travelling to other countries beginning in 1982 with its appearance at the Edinburgh Festival, and at the Riverside Studios in August as part of the Festival of India in Britain. Tanvir continued his adventure in forms and challenges writing and directing in the very late seventies *Devi ka Bairan*, with Dwarka and Mandla tribals, choosing the Chandaini form for *Son Sagari* in 1980, creating a new version of the folk material out of three versions by three different Chhattisgarhi groups, producing *Shah Badshah*, Balraj Sahni's version of Gogol's *The Inspector General*, for the Indian Institute of Technology, Delhi, the same year, and adapting *Nand Raja Mast Hain*, in 1984, from Manoj Mitra's *Rajdarshan*, for a production by Kartik Awasthi and Deepak Tiwari, as a University theatre production at the Ravi Shankar University, Raipur, where Tanvir was then serving a three year term as the first visiting professor in the Pandit Sundarlal Sharma Chair

*Hirna ki Amar Kahani*, first performed on 12 September 1985, grew out of a Ford Foundation project in which Tanvir tried once again to bring tribal, rural, and urban actors and actresses together in a single performance. On 9 April 1988, he directed Shankar Shesh's *Ek Aur Dronacharya*, for the Bhubai branch of the IPTA, in an environmental, open air production. On 8 August 1988, he directed *Moteram ka Satyagrah*, Safdar Hashmi's adaptation of a Premchand story, for Jan Natya Manch. In June 1989, he directed *Dushman*, Safdar Hashmi's adaptation of Gorky's *Enemies*, for the National School of Drama Repertory Company, with 'tunes

pilfered from Tagore and Nazim,' as Tanvir puts it. His last two productions till date have been Asghar Wajahat's *Jis Lahore Nah-Dekhya Wo Janmya Nai*, a musical play in Urdu, for the Sri Ram Centre Repertory Company, in 1990, and *Dekh rahe hain nayan*, written and directed by Tanvir in 1993.

The foreign tours to Scotland, England, Wales, Ireland, Holland, Germany, the erstwhile Soviet Union, Yugoslavia and France, and performances all over the country have kept Tanvir and the Naya Theatre busy throughout the eighties, and into the nineties.

Accession No. 050928  
 Sharada Lakshita Library  
 Tibetan Institute-Sarnath

Material available at the Sansthan

MS of CHARANDAS CHOR

Published material by and on Habib Tanvir

Brochures, folders and photographs of important productions

Disc record and Video recording of CHARANDAS CHOR

Audio recording of interviews